सुनीतिकुमार चटर्जी

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं जिसे नीचे बैठा लिपिक व्याख्या को लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवत: सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

सुनीतिकुमार चटर्जी

लेखक

सुकुमार सेन

अनुवादक

आनंद कुशवाहा

साहित्य अकादेमी

Sunitikumar Chatterjee : Hindi translation by Anand Kushwaha of Sukumar Sen's monograph in English. Sahitya Akademi, New Delhi (1991). SAHITYA AKADEMI
REVISED PRICE Rs. 15.00

प्रथम संस्करण : 1991

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : 'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23 ए/44 एक्स, डायमण्ड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053

29, एलडाम्स रोड, तेनामपेट, मद्रास 600 018

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014

109, जे. सी. रोड, बंगलौर 560 002

SAHITYA AKADEMI
REVISED PRICE Rs. 15.00

ISBN 81-7201-141-5

मुद्रक

भारती प्रिण्टर्स

दिल्ली 110 032

दो शब्द

डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी पर एक विनिबंध लिखने संबंधी साहित्य अकादेमी के कृपापूर्ण आग्रह को मैंने तत्परता एवं उत्साह से स्वीकार कर लिया था। लेकिन कुछ सप्ताह बाद जब मैं लिखने के लिए उद्यत हो रहा था, संशय और संकोच के भावों ने मुझे घेर लिया। चूँकि मैं पहले उनका छात्र रह चुका था और उसके बाद विश्वविद्यालय में उनका सहकर्मी। एक लंबे समय तक भाषाशास्त्र संबंधी एवं अन्य अनुसंधान कार्यों में उनसे मैं जुड़ा रहा था। दरअसल उनसे मेरा परिचय लगभग पचपन साल पुराना था और एक अर्धशती से भी अधिक समय तक मन और मानस दोनों ही दृष्टियों से मैं उनका शिष्य रह चुका था। इसलिए उनके बारे में एक तटस्थ द्रष्टा अथवा औपचारिक निवेदक के रूप में लिख पाना मेरे लिए संभव होता क्या ?

बहरहाल, यह संशय अधिक समय तक टिका नहीं रहा और संकोच का मेरा भाव भी जाता रहा। चटर्जी से परिचित अनेक व्यक्ति मेरे प्रति उनके स्नेह से भी अपरिचित नहीं होंगे। मुझे डर है कि यह बात भी पूरी तरह जानकारी में होगी कि परवर्ती समय में गुरु एवं शिष्य के बीच विभेद भी सामने आये जबकि शिष्य बात-चीत में आक्रामक रवैया भी अपना लेता था। इसलिए मेरे कथन में अतिरंजना की आशंका नहीं रहती। मैंने स्वयं को पृष्ठभूमि में ही रखने का पूरा-पूरा प्रयास किया है। लगभग निर्विवाद तथ्य ही मैंने सामने रखे हैं। एक श्रेष्ठ अध्येता की छवि के पीछे स्थित वास्तविक व्यक्तित्व को समुचित रूपरंग उकेरने के लिए तो एक सुदक्ष कलादृष्टि की ज़रूरत होती है।

डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी की श्रेणी के विद्वान दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो ऋषि वाल्मीकि की भाँति होते हैं जो किसी निश्चित पीठ से ज्ञान एवं मेधा का प्रचार-प्रसार करते हैं। दूसरे होते हैं च्यवन ऋषि की भाँति जो परिव्राजक रूप में अपना और अन्यों का कल्याण करते हैं। सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपने में मुनि तथा ऋषि दोनों ही भावों का समन्वय किया था, और वे दोनों प्रकार की वृत्तियों से परे भी थे। वस्तुत: कोई शत्रु नहीं था। ऐसे कुछ लोग अवश्य थे जो उन्हें सच की अपनी मान्यता के बारे में स्पष्टवादी होने के कारण पसंद नहीं करते थे। किंतु ऐसे

व्यक्तियों की परवाह भी क्यों करें ? अनेक महात्माओं की तरह मेरे गुरु भी किसी प्रकार के अवरोधों से घिरे नहीं थे। कोई भी व्यक्ति उनसे प्रश्न पूछ सकता था। सतासी वर्ष की आयु में भी वे रूढ़ अर्थों में वृद्ध नहीं हुए थे, उनके अंदर का शिशु-भाव अब भी प्रबल था। इस वास्तविक सुनीतिकुमार चटर्जी के रूपायन में समर्थ मैं नहीं हुआ हूँ। बाहर की दुनिया में जिस प्रकार वे जाने जाते थे, उसका एक शब्द-चित्र देने का ही प्रयास मैंने किया है।

इस पांडुलिपि की तैयारी में अपने युवा मित्र अभिजित कुमार दत्त से सहायता प्राप्त हुई है। उन्हें मैं साधुवाद देना चाहूँगा।

वर्धमान,
26 जून, 1978

—सुकुमार सेन

अनुक्रम

स्कूली जीवन

सुनीतिकुमार चटर्जी का जन्म कलकत्ता के पास गंगा के पश्चिमी किनारे पर स्थित एक उपनगरीय गाँव शिवपुर में 26 नवंबर, 1890 को हुआ था। उनका निम्न-मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार मध्य उन्नीसवीं सदी के आसपास कलकत्ता में बस गया था। चटर्जी के *प्रपितामह पूर्वी बंगाल (वर्तमान बांग्लादेश)* के फ़रीदपुर ज़िले के अपने पुश्तैनी गाँव से हुगली ज़िले के एक गाँव चले आये थे। भैरव नाम के ये व्यक्ति भी उस समय के अनेक कुलीन ब्राह्मणों की तरह मुख्यत: बहुविवाह पर निर्भर करते थे। उनकी कई पत्नियाँ थीं। लेकिन वे हुगली ज़िले के गाँव की अपनी पत्नी के साथ ही रहते थे। भैरव के पुत्र ईश्वरचंद्र, चटर्जी के परदादा, उत्तर भारत में विद्रोह के समय ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी थे। सेवानिवृत्त होने के बाद उन्होंने कलकत्ता में अपने लिए छोटा-सा एकमंज़िला मकान बनवाया और हुगली ज़िले के गाँव से अपना परिवार वहीं ले आये। ईश्वर के पुत्र हरिदास चटर्जी ही सुनीति के पिता थे। वे भी एक अंग्रेज़ व्यापारिक संस्थान में काम करते थे। हरिदास चटर्जी ने अपने पिता के मकान (उत्तर-मध्य कलकत्ता के चलता बगान इलाके में 3, सुकिया स्ट्रीट, अब कैलाश बोस स्ट्रीट) में कुछ हिस्सा और जोड़ा। वे कुल छ: लोग थे, चार भाई और दो बहनें। सुनीतिकुमार, हरिदास चटर्जी तथा कात्यायनी देवी के दूसरे पुत्र थे।

परंपरानुसार सुनीतिकुमार को बाङ्ला का अक्षरज्ञान उनकी माँ ने घर पर ही कराया। फिर उन्हें एक गुरु महाशय के विद्यालय में भेज दिया गया। वे पड़ोस के ही एक संपन्न भद्रपुरुष के छप्पर वाले उपभवन में पाठशाला चलाते थे। उनके बड़े भाई पहले से ही पाठशाला में थे। उन्होंने भी अक्षर ज्ञान का पहला पाठ घर पर ही माँ से लिया था। यहाँ उन्हें लेखन का पहला पाठ स्कूल के फ़र्श पर खड़िया से मिला। कुछ महीनों बाद दोनों भाई प्रारंभिक विद्यालय से हटाकर घर से थोड़ी ही दूर कलकत्ता एकेडेमी की आरंभिक कक्षाओं में भरती किये गये। वहाँ वे दो साल रहे। सुनीति-कुमार ने बाङ्ला की दूसरी पुस्तक (द्वितीय भाग) और अंग्रेज़ी की **फ़र्स्ट बुक ऑफ़ रीडिंग** का पाठ पूरा किया। 1898 में कलकत्ता में प्लेग का प्रकोप हुआ। परिवार शिवपुर भेज दिया गया जहाँ वे माँ के परिवार के साथ किरायेदार के रूप में रहे।

एक साल बाद प्लेग की महामारी समाप्त होने पर परिवार कलकत्ता वापस आया। अब दोनों बच्चों को मध्य कलकत्ता के बड़ा बाजार में स्थित मोतीलाल शील परिचालित फ्री स्कूल में भरती किया गया। घर और स्कूल के बीच दूरी लगभग दो किलोमीटर थी। लेकिन एक नियत कर्तव्य के लिए लंबी दूरी तय करने में भी क्या आपत्ति हो सकती थी? चटर्जी को आठवीं कक्षा में भरती किया गया। आठ साल (1899-1907) के बाद वे विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा में बैठे। सफलतापूर्वक योग्यता-क्रम में छठे स्थान पर आने के साथ ही उन्होंने प्रथम कोटि की सरकारी छात्रवृत्ति प्राप्त की।

स्कूल में प्रवेश के तुरंत बाद कुछ अध्यापकों ने एक असाधारण प्रतिभावान् बालक के रूप में उनकी पहचान कर ली थी। इस दृष्टि से अति उत्तम तो वे थे ही, गणित छोड़कर रेखाचित्र समेत अन्य सभी विषयों में वे छात्रों के बीच सर्वोत्तम स्थान पर रहे। स्कूल के अधीक्षक ब्रजेंद्रलाल गांगुली एक बहुत अच्छे अध्यापक एवं प्रशासक थे। वे पाँचवीं (आजकल की छठी) कक्षा में अंग्रेजी तथा गणित पढ़ाते थे। इस कक्षा की अर्धवार्षिक परीक्षा में चटर्जी ने 100 पूर्णांक में शून्य ही प्राप्त किया। गांगुली बहुत निराश हुए लेकिन उनकी अप्रसन्नता ने आशा का दामन नहीं छोड़ा। जैसी कि रीत थी बालक को डाँट-फटकार पड़ी और उसे उपर्युक्त कक्षा के लिए निर्धारित **बर्नार्ड स्मिथ** की पुस्तक आरिथमेटिक के अभ्यासों में दिये गये सभी सवालों को बारंबार हल करने के लिए बाध्य किया गया। गणित का यह श्रमसाध्य प्रशिक्षण अंत तक चलाया जाता रहा। विश्वविद्यालय प्रवेश परीक्षा में 160 में 122 अंक प्राप्त करके चटर्जी ने अपने गुरु को पर्याप्त संतुष्ट किया। सबसे ऊँची कक्षा में आने पर हेडमास्टर जगबंधु घोष ने उनमें विशेष रुचि दिखायी। इस कक्षा में तथा स्कूल के समय के बाद भी स्वेच्छया उन्हें पढ़ानेवाले अध्यापकों को चटर्जी कृतज्ञताभाव के साथ याद करते थे। असाधारण रूप से मानवीय एवं साथ ही *अंतःप्रेरणा* वाले अध्यापक **हेडपंडित** के लिए उनके मन में बड़ा आदर-भाव था। असाधारण रूप से कोमल-हृदय इस व्यक्ति का एक अत्यंत मनोहारी शब्दचित्र चटर्जी ने दिया है (हेडपंडित मोशाय, **पथ-चलती**, खंड-1)।

1903 में जब वे चौथी कक्षा में थे, यंग मेंस क्रिश्चियन एसोसियेशन ने स्कूल के बच्चों के लिए कॉलेज स्ट्रीट तथा हैरिसन रोड (अब महात्मा गाँधी मार्ग) के मोड़ पर एक शाखा शुरू की। चटर्जी एसोसियेशन के सदस्य बन गये। इस प्रकार उन्हें शिक्षा एवं संस्कृति संबंधी जानकारी पाने का समुचित अवसर मिला, जो अन्यथा नहीं मिल पाता।

कॉलेज के वर्ष

चटर्जी ने 1907 में विश्वविद्यालय प्रवेश परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। वे योग्यता-क्रम में छठे स्थान पर आये और इस प्रकार प्रथम कोटि की सरकारी छात्र-वृत्ति उन्हें मिली। इस प्रभावशाली उपलब्धि ने एक अच्छी कॉलेज शिक्षा का पथ प्रशस्त कर दिया। जनरल असेंबली इंस्टीट्यूशन के प्रथम वर्ष (कला) पाठ्यक्रम में प्रवेश उन्होंने लिया। यह संस्थान उनके घर से थोड़ी ही दूर था। यह ईसाई मिशनरी प्रतिष्ठान जल्दी ही डफ़ कॉलेज से जुड़कर स्काटिश चर्चेज कॉलेज बना। बाद में इसका नाम स्काटिश चर्च कॉलेज रखा गया। चटर्जी ने यहाँ दो साल अध्ययन किया और 1909 में प्रथम कला परीक्षा, प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करते हुए प्रथम कोटि की सरकारी छात्रवृत्ति प्राप्त की। अब वे प्रेसिडेंसी कॉलेज में प्रविष्ट हुए। यहाँ उनका संपर्क अनेक तेजस्वी अध्यापकों से हुआ जिनसे वे पढ़े और प्रभावित हुए थे। 1911 में उन्होंने अंग्रेज़ी (सम्मान) के साथ बी. ए. परीक्षा, सफल परीक्षार्थियों में सर्वोच्च स्थान पर रहते हुए, पास की। उनकी निकटतम प्रतिद्वंद्वी थीं कुमारी रेगिना गुहा। प्रेसिडेंसी कॉलेज से एम. ए. करते हुए वे विश्व-विद्यालय की भी कुछ कक्षाओं में जाते थे जहाँ कुछेक विषयों में पोस्ट-ग्रैजुएट प्रशिक्षण की शुरुआत हो ही रही थी। चटर्जी ने एम. ए. (अंग्रेज़ी) परीक्षा में भाषा पाठ्यक्रम (ग्रुप-बी) का विकल्प चुना था। वे अपने ग्रुप में सर्वोच्च स्थान पर आये। कुमारी गुहा ने साहित्य पाठ्यक्रम (ग्रुप-ए) लिया था। वे भी अपने ग्रुप में प्रथम श्रेणी में प्रथम आयीं।

कॉलेज के वर्ष (1907-1913) एक संभावनायुक्त अध्येता एवं विद्वान् के रूप में सुनीतिकुमार के विकास के वर्ष थे। स्काटिश चर्च कॉलेज में वे इतिहास के दो मूर्धन्य शिक्षकों, विपिनचंद्र सेन तथा आधारचंद्र मुखर्जी के संपर्क में आये। उनसे ही ग्रीक तथा रोमन इतिहास के लिए एक ललक उन्हें प्राप्त हुई। इसकी संतुष्टि के लिए उन्होंने ग्रीक तथा लैटिन से संबधित ग्रंथ भी पढ़े। वे अभी ग्रीक तथा लैटिन भाषाएँ नहीं जानते थे लेकिन ग्रीक अक्षरों और ग्रीक तथा रोमन मूर्तिकला की अनुकृतियों ने उनको मोह लिया था। एम. एम. घोष तथा एच. एम. पर्सीवाल जैसे जाने-माने शिक्षकों के संपर्क ने क्लासिकीय योरोपीय संस्कृति के लिए चटर्जी के प्रेम को दुगुना बढ़ा दिया था।

तरुण अध्येता

विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण होने पर चटर्जी ने मेट्रोपोलिटन इंस्टीट्यूशन (अब विद्यासागर कॉलेज) में प्रवेश लिया। उसी वर्ष अंग्रेजी में एम. ए. उपाधि प्राप्त करनेवाले उनके घनिष्ठ मित्र शिशिरकुमार भादुरी बाद में वहीं नियुक्त हुए। एक तरुण अध्येता के रूप में चटर्जी ने उस समय ही सर आशुतोष मुखर्जी का ध्यान आकर्षित कर लिया था। सर आशुतोष ने उन्हें विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर राबर्ट नाक्स (1914-19) का सहायक नियुक्त कर दिया। विश्वविद्यालय में 1910 से अंग्रेज़ी, संस्कृति और तुलनात्मक भाषाशास्त्र समेत अन्य अनेक विषयों का शिक्षण शुरू कर दिया गया था।

चटर्जी को यहाँ अनुसंधान-कार्य का अवसर मिला। विश्वविद्यालय के अकादमिक रुचिवाले विद्यार्थियों में अनुसंधान-कार्य लोकप्रियता पाने लगा था। चटर्जी ने प्राच्य तथा मध्यकालीन अंग्रेज़ी में विशेषज्ञता और प्रारंभिक जर्मन समीक्षा की समुचित जानकारी प्राप्त की। लेकिन भारोपीय भाषाओं की जर्मन-शाखा में उनके अनुसंधान कार्य हेतु निर्देश देने में समर्थ कोई व्यक्ति कलकत्ता में नहीं था। उनके पिता तो यही पसंद करते कि वे डिप्टी मजिस्ट्रेट अथवा ऐसी ही किसी हैसियत से सरकारी सेवा में लगें। लेकिन चटर्जी की दृष्टि क्षीण होने के कारण उन्होंने यही अनुभव किया कि सरकारी सेवा में जाने का उनके लिए बहुत कम अवसर था। और ना ही वे उच्च न्यायालय बार में जाने की ओर रूझान रखते थे। क़ानून का अध्ययन उन्होंने किया नहीं था। स्वाभाविक रूप से चटर्जी अध्यापन की ओर आये और विश्वविद्यालय शिक्षण के उपयुक्त अनुसंधान कार्य अपनाया। राष्ट्रवादी उत्साह की उभरती भावना अध्येताओं का ध्यान मातृभाषा के महत्त्व की ओर खींच रही थी। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा रहस्यवादमूलक बौद्ध चर्यापदों तथा बसंतरंजन रे द्वारा श्रीकृष्ण कीर्तन की खोज के साथ बाङ्ला भाषा ने अपने ऐतिहासिक क्षितिज का प्रसार पंद्रहवी सदी के बहुत परे तक कर लिया था। उस समय बाङ्ला भाषा एवं साहित्य की प्रतिष्ठा उत्कर्ष पर थी। इसकी पुष्टि रवींद्रनाथ ठाकुर को 1913 में नोबेल पुरस्कार मिलने से होती है। चटर्जी अब बाङ्ला भाषा के इतिहास में रुचि का अनुभव करने लगे। इस विषय पर अपने

अनुसंधान के लिए उन्हें 1916 में प्रेमचंद रायचंद पुरस्कार तथा 1917 में जुबली पुरस्कार मिला। प्रेमचंद रायचंद शोधकर्मी की हैसियत से तीन वर्षों की उनकी सक्रियता के फलस्वरूप बाङ्ला में फ़ारसी तत्त्वों की उपस्थिति, बाङ्ला भाषा की क्रियाओं एवं क्रियामूलों तथा बौद्ध चर्यापदों की भाषा से संबंधित भाषा-शास्त्र-विषयक निबंध सामने आये। विश्वविद्यालय का जुबली पुरस्कार उन्हें बाङ्ला भाषा एवं बोलियों के अध्ययन के लिए दिया गया था।

विश्वविद्यालय के पोस्टग्रैजुएट विभाग का पूर्ण संगठन एवं संस्थापन 1917 में किया गया। एक प्रवक्ता के रूप में चटर्जी की नियुक्ति अंग्रेज़ी विभाग में हुई, जिसके अध्यक्ष 1919 से प्रोफ़ेसर हेनरी स्टीफ़ेन थे। 1919 में सुनीतिकुमार को संस्कृत तथा संबंधित विषयों के अध्ययन के लिए भारत सरकार की छात्रवृत्ति प्रदान की गयी। उसी वर्ष सितंबर में चटर्जी लंदन चले गये और वहाँ हाल में स्थापित, लंदन विश्वविद्यालय से संबंधित स्कूल ऑफ़ ओरियंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज़ में एक शोधकर्मी के रूप में प्रवेश लिया। इंग्लैंड (1919-21) तथा फ्रांस (1921-22) में चटर्जी के अध्ययन-काल का प्रामाणिक विवरण उनके ही शब्दों में आगे दिया जा रहा है।

लंदन और पेरिस प्रवास

"1919 में योरोप जाकर संस्कृत का उच्च वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए भारत सरकार की भाषाशास्त्र-विषयक छात्रवृत्ति के लिए मेरा चयन हुआ। 1919-22 के बीच तीन वर्ष तक योरोप के लंदन तथा पेरिस विश्वविद्यालयों में मेरा प्रवास स्वाभाविक रूप से मेरे कार्यों के लिए अत्यधिक मूल्यवान् रहा है। लंदन में मैं डॉ. एल. डी. बर्नेट जैसे विद्वानों के संपर्क में आया। उनके साथ मैंने प्राकृत का अध्ययन किया और वे ही लंदन में मेरे निर्देशक रहे। यूनिवर्सिटी कॉलेज में तुलनात्मक भाषाविज्ञान के प्राध्यापक के रूप में डॉ. एफ. डब्ल्यू. थॉमस ने भारोपीय भाषा-विज्ञान विषयक मेरे शोध का निर्देशन किया। प्रोफ़ेसर डेनियल जोंस के अधीन मैंने स्वनशास्त्र का अध्ययन किया। वे न केवल मेरे शिक्षागुरु थे बल्कि एक संवेदनशील मित्र और सहायक भी रहे। स्कूल ऑफ़ ओरियंटल स्टडीज़ के निदेशक एवं सर्वाधिक सहानुभूति-पूर्ण व्यक्तित्व सर ई. डेनिसन रास, यूनिवर्सिटी कॉलेज के प्रोफ़ेसर आर. डब्ल्यू. चैम्बर्स, ई. एच. जी. ग्राटन तथा रोबिन फ्लॉवर की क्रमश: फ़ारसी, पुरानी अंग्रेज़ी, गोथिक एवं पुरानी आइरिश भाषाओं की कक्षाओं में जाने का अवसर मुझे मिला। पेरिस में मुझे भारोपीय भाषाशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन के लिए प्रोफ़ेसर आंत्वोन मेले जैसे शिक्षकों का सान्निध्य मिला। प्रोफ़ेसर जूल ब्लॉख के अधीन संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषा-वैज्ञानिकों के अध्ययन की सुविधा मुझे सुलभ हुई। इसके अलावा मैं प्रोफ़ेसर सिल्वां लेवी, पोलपेलियो तथा ज्यां प्रिजलॉस्की जैसे मूर्धन्य विद्वानों के संपर्क में आया। इंग्लैंड में रहते समय सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने मेरे कार्य में व्यक्तिगत रुचि ली। उनकी रुचि अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई और इसे वे अपनी कृपालुता एवं विज्ञान प्रेम के साथ अब भी बनाये हुए हैं। इससे मुझे आशातीत सीमा तक लाभ हुआ है। भारोपीय भाषाशास्त्र के इस मनीषी के साथ एक जैसे अध्ययनों में सहकर्म मेरा महान् सौभाग्य रहा है जिसका आनंद मैंने लिया है। और फिर प्रोफ़ेसर जूल ब्लॉख के साथ उसी प्रकार का संपर्क मेरे अध्ययनों तथा मेरे कार्यों का प्रेरणास्रोत रहा है। प्रकांड पंडित एवं शिक्षक

प्रोफ़ेसर मेले से अपने परिचय के बारे में भी मैं यही बात कह सकता हूँ।"[1]

सुनीतिकुमार चटर्जी अगस्त 1921 से अप्रैल 1922 तक पेरिस में रहे। मई 1922 के मध्य में वे इटली के पादुआ नगर, वहाँ के विश्वविद्यालय की स्थापना के सात सौवें वार्षिक समारोह में भाग लेने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में गये। कलकत्ता से दो अन्य प्रतिनिधि, दोनों ही वैज्ञानिक, डॉ. डी. एन. मलिक तथा डॉ. पी. एन. घोष थे। चटर्जी ने कलकत्ता प्रतिनिधि मंडल की ओर से संस्कृत में एक संबोधन-भाषण किया। पादुआ से वे वेनिस गये और पाँच दिन वहाँ रहे। इसके बाद वे बोलोना तथा रवना गये। जहाँ वे कला एवं स्थापत्य की कृतियों को देखने के लिये कुछ दिन रुके। रवना से वे ब्रिंदिसी होते हुए ग्रीस के नगर एथेंस आये। एथेंस ने तो उन्हें सम्मोहित कर लिया। 7 जून, 1922 को उन्होंने अपने एक बुजुर्ग मित्र को लिखा था :[2]

> "एथेंस के एक्रोपोलिस पर पार्थेनान के भग्न मंदिरों का अवलोकन करते हुए मैंने अपने भाग्य को सराहा। पार्थेनान उतना ही भव्य है—बल्कि और ही सुंदर—जैसा कि चित्रों और विवरणों से मेरी कल्पना में आया था। मैं अब तक अनेक मानव-निर्मित मंदिर देख चुका हूँ—भुवनेश्वर मंदिर, ताजमहल, फ्रांस, इंग्लैंड एवं सेंट-मार्क के गोथिक गिरजाघर। ये सभी मोहक हैं और उनकी कोई तुलना नहीं हो सकती। लेकिन पार्थेनान तथा उसी प्रकार के अन्य ग्रीक मंदिरों में गहनता, सामर्थ्य और कोमलता की ऐसी अभिव्यक्ति मिलती है जिसका समतुल्य कहीं और नहीं है। और केवल इसी कारण मैं ग्रीक स्थापत्य के लिए एक विशेष आकर्षण का अनुभव करता हूँ।"

---

1. 1926 में लिखित, उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति के पुरोवाक् में।
2. बाङ्ला में लिखित एक पत्र से, **सबुज-पत्र** में प्रकाशित।
   (1329 बाङ्ला संवत् = 1922 ईस्वी)

युवा प्राध्यापक

चटर्जी का चयन भाषाशास्त्र की नयी प्रवर्तित पीठ के लिए किया गया था। इस पीठ की स्थापना खैरा के राजा कुमार गुरुप्रसाद सिंह के सौजन्य से भौतिकी, रसायन, कृषि और ललित कला इत्यादि वैज्ञानिक एवं साहित्यिक विषयों के अध्ययन के लिए की गयी थी। स्वदेश आने के तुरंत बाद चटर्जी प्लूरिसी के शिकार हो गये। तरुण अध्येता की अस्वस्थता की बात सुनकर सर आशुतोष मुखर्जी उनके घर आये। इस अस्वस्थता के कारण ही चटर्जी पूजा अवकाश के तुरंत बाद अपेक्षित समय पर नहीं, बल्कि कुछ हफ़्तों के अंतराल से विश्वविद्यालय सेवा में लग पाये। उन्होंने नवंबर 1922 में कार्यभार सँभाला। इसके बाद से उनका प्रमुख सरोकार स्नातकोत्तर विभाग में अंग्रेज़ी, बाङ्ला, हिंदी, उर्दू, संस्कृत तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान जैसे विभिन्न विषयों की कक्षाएँ लेना था। कुछ वर्षों बाद वे पाली, फ़ारसी, इस्लामी इतिहास एवं संस्कृति और फ्रांसीसी की कक्षाएँ भी लेने लगे। चालीस के दशक में सर्टिफिकेट और डिप्लोमा के सांध्य-कालीन पाठ्यक्रम शुरू किये जाने पर वे भाषा-शास्त्र भी पढ़ाने लगे।

1952 में विश्वविद्यालय से पदत्याग करते समय प्रोफ़ेसर चटर्जी दस-ग्यारह कक्षाएँ प्रति सप्ताह लेते थे। विश्वविद्यालय प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष होने के नाते वे बहुत कम, ज़्यादा-से-ज़्यादा चार, कक्षाएँ ले सकते थे। लेकिन अध्यापन तो उनके लिए बहुत सहज बात थी और इसके लिए वे लालायित रहते थे।

सर आशुतोष मुखर्जी ने उनकी लंदन में लिखी थीसिस को विश्वविद्यालय प्रेस से प्रकाशित करने का प्रबंध किया था। यह काम 1924 में शुरू हुआ। कक्षाएँ लेने के अलावा चटर्जी ने अपना समूचा समय एवं शक्ति इस कार्य को प्रेस में संपन्न होते देखने में लगा दिया। प्रूफ़-रीडिंग के मामले में वे बहुत सजग-सतर्क रहा करते थे। उनकी यह सर्वश्रेष्ठ कृति 'ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ़ बंगाली लैंग्वेज' कपड़े की दो जिल्दों में सितंबर 1926 में प्रकाशित हुई। केवल पाँच सौ प्रतियाँ प्रकाशित हुई और तेरह सौ से भी अधिक पृष्ठोंवाली इस पुस्तक का मूल्य केवल बीस रुपये रखा गया जो सस्ती छपाई के उस ज़माने में बहुत ही कम था। सारा स्टाक कुछेक वर्षों में ख़त्म हो गया। विश्वविद्यालय को कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि

मूल्य से लागत भी नहीं निकल पायी। फिर लेखक को रॉयल्टी मिलने का सवाल ही नहीं उठता था। लेकिन पुरानी पुस्तकों के विक्रेताओं ने इस पुस्तक को निरंतर बढ़ती कीमतों पर बेचकर भारी मुनाफ़ा कमाया। (70 के दशक में तो इस पुस्तक की कीमत चार सौ रुपयों) तक आ गयी थी। **एलेन तथा अनविन**, लंदन ने एक आफ़सेट रिप्रिंट 1971 में निकाला। इस संस्करण में एक तीसरा खंड भी है, जिसमें लेखक द्वारा किये गये परिवर्धन तथा संशोधन शामिल हैं। इस महान् कृति के दूसरे समुचित संस्करण के लिए यह सामग्री आवश्यक थी।

चटर्जी का विवाह 1914 में कमलादेवी (जन्म 1900) से हुआ। सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में दक्षिण बिहार में आ बसे एक संपन्न बंगाली ब्राह्मण परिवार की पुत्री से उनका यह विवाह-संबंध तय हुआ। इस विवाह से एक पुत्र तथा पाँच पुत्रियों की प्राप्ति हुई। 1964 में कमलादेवी का देहावसान हुआ।

रवीन्द्रनाथ के साथ

विदेश जाने से पूर्व ही चटर्जी का रवीन्द्रनाथ ठाकुर से थोड़ा-बहुत परिचय हो चुका था। अब वे रवीन्द्रनाथ के अधिक निकट संपर्क में आये। उन अनेक गोष्ठियों तथा व्याख्यानों में वे शामिल हुए थे जिनका रवीन्द्रनाथ ने अपने घर में आयोजन किया। उनकी **विचित्रा** नाम की गोष्ठी साहित्य, चिंतन एवं ललित कलाओं के परिवर्धन-परिष्कार को समर्पित थी। लंदन विश्वविद्यालय का छात्र रहते हुए भी चटर्जी रवीन्द्रनाथ से मिले थे। रवीन्द्रनाथ से विख्यात रूसी कलाकार निकोलस रोरिक की मुलाक़ात कराने में उन्हीं की भूमिका थी।[1] रवीन्द्रनाथ से चटर्जी का परिचय गहन होते हुए श्रद्धा एवं प्रेम का रूप लेता गया। इंडोनेशिया की यात्रा के बाद तो और भी अधिक। रवीन्द्रनाथ के सहयात्रियों में वे विशेष लोकप्रिय थे। महान् कलाकार नंदलाल बसु के प्रति चटर्जी का विशेष लगाव था। इन दोनों के बीच विकसित होनेवाले सुहृद संबंध की प्रेरणा उनका कलाप्रेम ही था। बसु तो कला के मर्मज्ञ थे ही, चटर्जी में कला की भावना सुषुप्तावस्था में थी। चटर्जी सदा ही नंदलाल बसु उनके गुरु अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा उनके शांतिनिकेतनवासी सहकर्मियों और शिष्यों के श्रेष्ठतम प्रशंसकों में एक रहे थे।

चटर्जी रवीन्द्रनाथ की इंडोनेशिया-यात्रा में उनके साथ गये जहाँ उन्होंने एक रिपोर्टर की-सी भूमिका निभायी। तरुण विद्वत्कर्मी के लिए यह अनुभव अत्यंत मूल्यवान् सिद्ध हुआ। चटर्जी के अलावा रवीन्द्रनाथ की मंडली में शांतिनिकेतन के प्रमुख कलाकार सुरेंद्रनाथ कर और धीरेंद्रकृष्ण देववर्मा थे। नंदलाल बसु कुछ साल पहले कवि की चीन-यात्रा में साथ जा चुके थे। बाद में आर्यनायकम नाम से सुपरिचित, शांतिनिकेतन के ही एक अन्य अंतेवासी एरियम विलियम्स कुछ पहले ही संभावित यात्रा के प्रबंध के लिए सिंगापुर चले गये थे। शांतिनिकेतन में भारतीय संगीत की शिक्षा एवं शोध-कार्य के लिए कुछ समय तक रह चुके डॉ. ए. ए. बेक अपनी पत्नी के साथ पहले चले गये थे। सिंगापुर में वे कवि के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

---

1. देखें, रोरिक स्मृतिग्रंथ (शिमला, 1975) में 'रोरिक एज़ आई सी हिम'।

रवीन्द्रनाथ तथा उनकी टोली ने 12 जुलाई, 1927 की दोपहर को मद्रास मेल से मद्रास के लिए प्रस्थान किया। मद्रास से वे 14 जुलाई को सिंगापुर के लिए रवाना हुए। यह टोली वहाँ 20 जुलाई को पहुँची। सिंगापुर का कार्यक्रम एक सप्ताह में समाप्त हो गया। रवीन्द्रनाथ सिंगापुर से चलकर मलक्का, क्वालालमपुर, इपो तथा ताइसिंग में एक-एक, दो-दो दिन रुकते हुए 13 अगस्त को पेनांग पहुँचे। पेनांग से यह टोली 16 अगस्त को बाली के लिए चली और सुबह के समय सुमात्रा स्थित वेलवान पहुँची। वहाँ उन्होंने जहाज़ बदला। अब डॉ. बेक और उनकी पत्नी भी साथ हो लिए थे। 26 अगस्त को वे बाली आये। 8 सितंबर को बाली से चलकर वे अगले ही दिन जावा पहुँचे जहाँ उन्होंने एक महीने से अधिक भ्रमण किया। 30 सितंबर को रवीन्द्रनाथ ने सिंगापुर के रास्ते स्याम की राह ली। चटर्जी ने अगले दिन प्रस्थान किया और सुबह के समय सिंगापुर में रवीन्द्रनाथ से मिले। उसी शाम टोली ने पेनांग का रास्ता पकड़ा और 3 अक्टूबर को वहाँ पहुँचे। 7 को वे ट्रेन से स्याम (थाईलैंड) के लिए चले। रवीन्द्रनाथ तथा उनकी टोली ने 16 अक्टूबर को ट्रेन से वापसी यात्रा शुरू की और अगले दिन पेनांग आ गये। यहाँ उन्हें सीधे स्टीमर पकड़ना था। स्टीमर 22 अक्टूबर को रंगून पहुँचा और 24 अक्टूबर को कलकत्ता के लिए चला। यह टोली 27 अक्टूबर को कलकत्ता वापस आ गयी।

अल्पकालिक होते हुए भी रवीन्द्रनाथ के साथ उनकी इंडोनेशिया तथा स्याम-यात्रा चटर्जी के लिए अत्यंत लाभप्रद रही। पेरिस प्रवास के समय उन्होंने प्रिजुलॉस्की तथा अन्य विद्वानों के व्याख्यान सुने जो दक्षिण-पूर्व भारत और सुदूर-पूर्व एशिया के सांस्कृतिक इतिहास के नये क्षितिजों का उद्‌घाटन कर रहे थे। योरोपीय, विशेषकर ग्रीक संस्कृति के लिए चटर्जी में प्रेमभाव पनपा था और योरोप एवं ग्रीस की अपनी यात्रा में उन्होंने मध्यकालीन ग्रीक तथा योरोपीय संस्कृति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया था। अब रवीन्द्रनाथ के साथ यात्रा में उन स्थानों की यात्रा और कलाकृतियों के दर्शन का दुर्लभ अवसर उन्हें मिला जो भारतीय तथा इंडोनेशियाई संस्कृति का प्रभापूर्ण संयोजन प्रस्तुत करती हैं। कालिदास नाग, प्रबोधचंद्र बागची, उपेंद्रनाथ घोषाल और अन्य विद्वानों के प्रयास से 1922 में ही कलकत्ता में एक वृहत्तर भारत समाज (ग्रेटर इंडिया सोसाइटी) की स्थापना हो चुकी थी। योरोप से वापस आने पर चटर्जी ने भी इस सोसाइटी की सदस्यता ले ली थी। इंडोनेशिया तथा स्याम की यात्रा के बाद चटर्जी सुदूर दक्षिण-पूर्व की उस संश्लिष्ट तथा उदार संस्कृति के प्रमुख प्रवर्तक बन गये, जिसमें प्राचीन भारत के कुछ अंश अब भी जीवंत बने हुए थे। चटर्जी ने यात्रा की एक विस्तृत डायरी तैयार की थी और जैसा कि हम बाद में देखेंगे, यह डायरी बाङ्ला के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में एक विशिष्ट योगदान सिद्ध हुई। अपनी और रवीन्द्रनाथ की यात्राओं तथा

क्रिया-कलापों की विस्तृत डायरी लिखने की अंतप्रेरणा से जुड़े इस कार्य ने मातृभाषा में उनकी लेखन-शैली को परिष्कृत रूप दिया।

रवीन्द्रनाथ के साथ यात्रा के क्रम में चटर्जी ने भारतीय कला एवं संस्कृति तथा शांतिनिकेतन में रवीन्द्रनाथ के स्कूल एवं उसके आदर्शों पर अनेक व्याख्यान किये। बटाविया (30 सितंबर, 1927) में उन्होंने वेटेनशापेन स्थित 'कोनिंग्लिक बटावियाश गेनूट्शाप फान कुंस्ट' के समक्ष आर्यपूर्व भारतीय सभ्यता की पृष्ठभूमि पर एक रोचक आलेख पढ़ा।

देश और विदेश

1928 से 1934 तक चटर्जी के लिए 'जड़ता' अथवा गृहबद्धता के वर्ष थे। विश्वविद्यालय में अध्यापन के अतिरिक्त उनके अकादमिक क्रियाकलाप थे विद्वत्सभाओं में सक्रिय उपस्थिति, यत्र-तत्र व्याख्यान और संबोधन-भाषण तथा **बंगीय साहित्य परिषद् पत्रिका, विश्वभारती क्वाटर्ली, त्साइटश्रिफ्ट फ्यूर इंडोलोगिए उंड ईरानिस्टिक, जर्नल ऑफ़ एशियाटिक सोसाइटी, इंडियन लिंग्विस्टिक्स और मॉडर्न रिव्यू** जैसे विद्वत्तापूर्ण पत्रों के लिए प्रपत्र-लेखन इत्यादि। 1927-28 में उनकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई—एक तो बाङ्ला के भाषाशास्त्र पर और दूसरी विदेशियों के लिए एक बाङ्ला परिचय-पुस्तिका।

चटर्जी अभी अपने पिता के ही साथ रह रहे थे। पुश्तैनी मकान अब उनके ही बढ़ते जा रहे परिवार के लिए छोटा पड़ रहा था। इसलिए उन्होंने दक्षिण कलकत्ता में ज़मीन खरीदकर अपना एक मकान बनवाया और 1933 में उसमें चले आये। अपने आवास को उन्होंने पुराणों में वर्णित देवसभा के अनुरूप **सुधर्मा** नाम दिया। चटर्जी का उत्कृष्ट पुस्तक संचयन और कला-संग्रह इसी मकान (16, हिंदुस्तान पार्क, कलकत्ता-29) में रखे गये थे।

सुनीतिकुमार ने 1935 में लंदन में आयोजित भाषाशास्त्र संबंधी दूसरी अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी के अवसर पर योरोप की दूसरी बार यात्रा की। उन्होंने इस संगोष्ठी में कलकत्ता विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया और इसके भारत संबंधी सत्र की अध्यक्षता की। लंदन की संगोष्ठी के बाद चटर्जी ने फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी तथा चेकोस्लोवाकिया की यात्रा की। उन्होंने बर्लिन विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या संस्थान में एक भाषण किया। इस यात्रा के विवरण 1938 में प्रकाशित उनकी डायरी में मिलते हैं।

1936-37 के जाड़े में चटर्जी को रंगून में आयोजित अखिल बर्मा बंगाली साहित्यिक संगोष्ठी की अध्यक्षता के लिए आमंत्रण मिला। इस बर्मा-यात्रा में वे पेगू, तुर्यू, प्यिमानो, पागान तथा मांडले गये।

चटर्जी ने योरोप की तीसरी यात्रा 1938 में की। उनके साथ उनके स्कूल के मित्र मेजर पी. बर्धन भी थे। इस अवसर पर उन्हें दो आयोजनों—फ़ोनेटिक साइंस

की तीसरी अंतर्राष्ट्रीय सभा, घेंट में भाषाशास्त्र संबंधी तीसरी अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस तथा ब्रूसेल्स में प्राच्य विद्या-विशारदों की अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में कलकत्ता विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व करना था। उन्होंने 26 जून, 1938 को ट्रेन से बंबई के लिए प्रस्थान किया और 29 जून को स्टीमर पर चढ़े। उन्होंने जेनेवा में स्टीमर छोड़ दिया और नेपल्स, जेनोआ, मिलान, लोसाना, जेनेवा तथा पेरिस से गुज़रते तथा अल्पकालिक भ्रमण करते हुए 17 जुलाई को बेल्जियम पहुँचे। 21 जुलाई को चटर्जी ने संगोष्ठी में वाच्य ध्वनियों के विकास पर अपना प्रपत्र पढ़ा। ओस्टेंड तथा डोवर से होते हुए वे 23 जुलाई को लंदन आये और सात दिन बाद डेनमार्क के लिए चल पड़े। 31 जुलाई से 6 अगस्त तक वे कोपेनहेगन में नृतत्त्वशास्त्रियों की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस मे शामिल हुए। 6 अगस्त को वे ओस्लो गये। 7 को उन्होंने नार्वे छोड़ दिया और पाँच दिन स्टॉकहोम में रहे। इसके बाद उन्होंने फ़िनलैंड, जर्मनी तथा पोलैंड की यात्राएँ कीं। पोलैंड से ब्रूसेल्स (बेल्जियम) आकर संगोष्ठी में भाग लिया और इटली होते हुए भारत लौटे।

39 से 47 तक चटर्जी का यात्रावृत्त भारत तक ही सीमित रहा। उन्होंने पूर्वी बंगाल (अब बांग्लादेश) के कोमिल्ला में अखिल बंगाल बंगाली साहित्य सम्मेलन के वार्षिक सत्र की अध्यक्षता की। 1940 में गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी (अब गुजरात विद्या सभा) के पोस्टग्रैजुएट तथा अनुसंधान विभाग में कुछ भाषण करने का आमंत्रण उन्हें मिला। जहाँ उन्होंने हिंदी भाषा के ऐतिहासिक विकास पर आठ भाषण किये। ये भाषण अहमदाबाद से **इंडो-आर्यन एंड हिंदी** पुस्तक के रूप में 1942 में प्रकाशित हुए। **ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ़ बंगाली लैंग्वेज** (1926) के बाद भारतीय भाषाशास्त्र को उनका यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान था।

1946 में चटर्जी ने सिंध (कराची) में आयोजित 34वें अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के राष्ट्रभाषा सत्र की अध्यक्षता की। अगले वर्ष असम सरकार ने उनसे प्रतिभादेवी प्रतिष्ठान के लिए कुछ भाषण करने का आग्रह किया। उन्होंने असम के विशेष संदर्भ के साथ, भारतीय संस्कृति के विकास में मंगोल प्रजाति के योगदान की चर्चा की। इस प्रसंग में ही उन्होंने मणिपुर के इम्फाल की यात्रा की थी।

चटर्जी चौथी बार 1948 में योरोप गये। जुलाई में पेरिस में होनेवाली अंतर्राष्ट्रीय भाषाशास्त्र कांग्रेस तथा अंतर्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या-विशारद कांग्रेस और अगस्त में ब्रूसेल्स में होनेवाली अंतर्राष्ट्रीय नृतत्त्वशास्त्री कांग्रेस में वे कलकत्ता विश्वविद्यालय एवं भारत सरकार के प्रतिनिधि बनाये गये थे। वापसी यात्रा के समय सितंबर, 1948 में वे एक सप्ताह के लिए काहिरा में रुके।

दिसंबर, 1949 में चटर्जी ने योरोप की पाँचवी बार यात्रा की, पेरिस में

दिसंबर, 1949 और मार्च, 1950 में आयोजित ब्रेललिपि संबंधी यूनेस्को संगोष्ठी में भाग लेने के लिए। कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से एक शैक्षिक अनुसंधान यात्रा पर जनवरी, 1950 में वे इटली, इंग्लैंड, हालैंड तथा तुर्की (इस्तांबुल) की यात्रा पर गये थे।

फरवरी, 1951 में चटर्जी ने बेरुत, लेबनान में अरबी तथा फ़ारसी ब्रेल लिपियों से संबंधित यूनेस्को संगोष्ठी में भाग लिया। वे दमिश्क भी गये।

चटर्जी को संयुक्त राज्य अमरीका से अतिथि प्राध्यापन के लिए आमंत्रण मिला। वे पेंसिलवानिया (फ़िलाडेल्फिया) विश्वविद्यालय के **स्कूल ऑफ़ साउथ एशियन स्टडीज़** से संबंधित हुए। उन्होंने कोलंबिया (न्यूयार्क), येल (न्यू हैवन) तथा वाशिंगटन विश्वविद्यालयों में भी भाषण किया। न्यूयार्क के रॉकफेलर फ़ाउंडेशन के तत्त्वावधान में उन्होंने एक महीने की मेक्सिको यात्रा भी की। पेरिस में आयोजित एक अन्य सभा ब्रेल संगोष्ठी में भी वे शामिल हुए। 31 मार्च को वे भारत वापस आये।

राजनीति के आसपास

कुछ मित्रों और प्रशंसकों ने चटर्जी से एक निर्दलीय प्रत्याशी के रूप में पश्चिम बंगाल विधान परिषद् के चुनाव में आने का आग्रह किया। फरवरी, 1953 में वे सर्वसम्मति से विधान परिषद् के अध्यक्ष चुन लिए गये। अब उन्होंने विश्वविद्यालय सेवा से इस्तीफ़ा दे दिया। उन्होंने अक्टूबर-नवंबर, 1953 में अहमदाबाद में आयोजित अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के सत्रहवें सत्र की अध्यक्षता की।

1954 में उन्होंने असम के गुवाहाटी विश्वविद्यालय में **भारत के इतिहास एवं संस्कृति में असम के योगदान** पर वाणीकांत काकती स्मारक व्याख्यान किया।

जुलाई-अगस्त, 1954 में चटर्जी को तीन सप्ताह के लिए पश्चिम अफ्रीका—गोल्ड कोस्ट (न्यू घाना), नाइजीरिया तथा लाइबेरिया—मिश्र एवं लीबिया होते हुए—जाने का अवसर मिला। इस यात्रा को नयी दिल्ली की **भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्** ने आयोजित किया था। अफ्रीका यात्रा के बाद अगस्त 54 में वे भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के प्रतिनिधि के रूप में प्राच्य विद्या विशारदों की तेइसवीं अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में भाग लेने के लिए कैंब्रिज (इंग्लैंड) गये।

उसी वर्ष अक्टूबर-नवंबर में वे भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में मेदान (उत्तरी सुमात्रा) में इंडोनेशिया सरकार द्वारा आयोजित इंडोनेशियाई भाषा संबंधी संगोष्ठी में भाग लेने गये। भारत लौटते हुए दिसंबर, 1954 में वे बैंकाक में रुके। उसी वर्ष बंबई विश्वविद्यालय में विल्सन भाषाशास्त्रीय व्याख्यान-माला के अंतर्गत उन्होंने मध्य-इंडो-आर्यन भाषा के विकास पर पाँच भाषण किये।

जनवरी, 1955 में चटर्जी को भारत के राष्ट्रपति द्वारा पद्मभूषण का सम्मान मिला। इससे भी बड़ा 'पद्मविभूषण' का सम्मान उन्हें नौ साल बाद जनवरी, 1963 में प्रदान किया गया।

ग्रीष्म 1953 तथा परवर्ती वर्षों में चटर्जी ने पुणे, अन्नामलाईनगर, मैसूर, कोयंबटूर, सागर तथा मदुरैई विश्वविद्यालयों में आयोजित भाषाशास्त्रीय-विषयक ग्रीष्मकालीन सत्रों में भाषण किया। 1956 में लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ़ इंडिया तथा ऑल इंडिया ओरियंटल कांफ्रेंस ने अन्नामलाईनगर में संयुक्त रूप से चटर्जी के सम्मान में विश्व-भर के विद्वानों द्वारा लिखे निबंधों का ग्रंथ उन्हें समर्पित किया।

सितंबर तथा अक्टूबर, 1956 में चटर्जी ने पेकिंग विश्वविद्यालय तथा चीन लोक गणराज्य की सरकार के संयुक्त निमंत्रण पर भारतीय विश्वविद्यालयों के संयुक्त प्रतिनिधिमंडल के सदस्य रूप में दो महीनों के लिए चीन यात्रा की। वे हांगकांग, कैंटन, पेकिंग, शेन्यांग (मुकदेन), आन-शान, फू-शान, नानकिंग, शंघाई तथा हांगयाऊ गये। इनमें से कुछ स्थलों पर उन्होंने सांस्कृतिक विषयों से संबंधित भाषण भी किये। 1955-56 में राजभाषा आयोग के सदस्य तथा 1956-57 में संस्कृत आयोग के अध्यक्ष रूप में साक्ष्य-संग्रह के लिए उन्होंने समूचे भारत की यात्रा की। पहले आयोग में बहुमत से भिन्न राय रखने के कारण उन्होंने अपना एक अलग प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

1956 के प्रांतीय विधानसभा चुनावों में चटर्जी अपने क्षेत्र से पुनः चुने गये और दूसरी बार भी विधान परिषद् के अध्यक्ष मनोनीत हुए। सितंबर से नवंबर, 1958 तक सोवियत संघ की यात्रा के लिए उन्हें सोवियत विज्ञान अकादेमी का आमंत्रण मिला। उन्होंने मास्को तथा लेनिनग्राद में भाषण किये और मास्को में आयोजित स्लाव-अध्येताओं के चौथे अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में एक महत्त्वपूर्ण आलेख पढ़ा। वे कीव, त्बिलिसी तथा ताशकंद भी गये। ताशकंद में होनेवाले एशियाई एवं अफ्रीकी लेखकों के सम्मेलन में वे शरीक हुए और इसके एक सत्र की अध्यक्षता भी की। उसी वर्ष चीन-भारत मैत्री संघ के निमंत्रण पर उन्होंने तीन सप्ताह के लिए दुबारा चीन की यात्रा की।

1959 में चटर्जी ने अपनी आधिकारिक हैसियत में आस्ट्रेलिया की यात्रा की। एक भारतीय प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने कैनबरा में आयोजित राष्ट्रमंडल सांसद् सम्मेलन में भाग लिया। वापसी यात्रा में वे जकार्ता (इंडोनेशिया) और बैंकाक (थाईलैंड) भी गये।

1960 में चटर्जी को योरोप में भाषण तथा अध्ययन यात्रा का निमंत्रण मिला। जून-जुलाई में अपनी पत्नी के साथ वे काहिरा, रोम, प्राहा, बॉन, पेरिस, लंदन तथा एम्सटर्डम गये। शीघ्र ही उन्हें प्राच्य विद्या-विशारदों की पच्चीसवीं अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस (अगस्त 9-16) में भारत सरकार के प्रतिनिधि रूप में मास्को जाने का भी निमंत्रण मिला। वहाँ उन्होंने सामान्य सत्र तथा काकेशिया संबंधी सत्र में लंबे प्रपत्र पढ़े। इस कांग्रेस के बाद चटर्जी ने बाहरी मंगोलिया (उलान बटोर, एर्देनित्सू तथा खोछो-छाइदोम) की यात्रा की। उलान बटोर के गंदम बौद्ध विहार को उन्होंने नेगापतम से प्राप्त सातवीं सदी में बनी बुद्ध की कांस्य-प्रतिमा भारत सरकार की ओर से भेंट की। इस विहार तथा अन्य संस्थानों को उन्होंने भारत सरकार की ओर से पुस्तकें भी उपहारस्वरूप दीं।

रोम विश्वविद्यालय ने चटर्जी को डॉक्टर ऑफ़ लेटर्स (डी. लिट्.) की मानद उपाधि प्रदान की। मार्च, 1961 में यह सम्मान लेने रोम गये। वापसी में वे

तेहरान गये और वहाँ के विश्वविद्यालय में ईरानी सभ्यता पर एक प्रपत्र पढ़ा।

1962 में चटर्जी ने व्यापक विश्व-भ्रमण किया। अगस्त में वे डबलिन गये। मसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ़ टेक्नॉलाजी, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, पर्मानेंट इंटरनेशनल कमिटी ऑफ़ लिंग्विस्टिक्स तथा अन्य संस्थाओं द्वारा आयोजित नवीं अंतर्राष्ट्रीय भाषाशास्त्र कांग्रेस में उन्होने भाग लिया। उन्होंने एक पर्चा पढ़ा और एक पूर्ण सत्र की अध्यक्षता की। अमरीका में—थाउजैंड आइलैंड पार्क, फ़िलाडेल्फ़िया, साल्ट लेक सिटी, कैलिफ़ोर्निया स्थित सैनफ्रांसिस्को और बर्कले इत्यादि का उन्होंने व्यापक भ्रमण किया। फिर वे होनोलुलू विश्वविद्यालय के अतिथि के रूप में पाँच दिन के लिए हवाई आये। हवाई से वे जापान गये। ओसाका, क्योतो तथा तोक्यो के विश्व-विद्यालयों तथा संस्थानों में उन्होंने भाषण किया और शितो मत एवं बौद्ध धर्म के अनेक मंदिरों एवं पवित्र स्थलों (क्योतो, नारा और इसे) की यात्रा की। इसके बाद फ़िलीपीन विश्वविद्यालय के अतिथि के रूप में वे मनीला आये। वहाँ उन्होंने भाषण किया तथा विश्वविद्यालय के भाषाशास्त्र संकाय के साथ एक परिसंवाद आयोजित किया।

इस वर्ष के अंत में वे फिर चुनाव मे खड़े हुए और तीसरी बार परिषद् के लिए चुने गये। वे इसके अध्यक्ष भी मनोनीत हुए।

ग्रीष्म 1963 में विशेष निमंत्रण पर वे नेपाल नरेश के अतिथि बनकर काठमांडू गये, नेपाल नरेश को जन्मदिन पर एक अभिनंदन ग्रंथ तथा जीवनी प्रदान किये जाने के अवसर पर।

मई-जून, 1964 में चटर्जी दोबारा सोवियत देश की यात्रा पर गये। कीव, कन्येव, शेवचेंकोवा तथा मोरित्स्की में तारास शेवचेंको के 150 जन्म-दिवस समा-रोहों में वे शरीक हुए। विल्नियस (लिथुआनिया) तथा रिगा (लातविया) की भी उन्होंने यात्रा की। जून, 1964 में वे एशियाई एवं अफ्रीकी लेखकों के सम्मेलन में शामिल हुए।

राष्ट्रीय प्राध्यापक

चटर्जी जब सोवियत संघ की यात्रा पर थे, तभी उन्हें मानविकी के क्षेत्र में भारत का राष्ट्रीय प्राध्यापक नियुक्त किया गया।

अक्टूबर, 1964 में वे रानी एलिज़ाबेथ द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेंट के उद्घाटन समारोह के समय लंदन में थे। फिर वे किंग्स्टन में आयोजित राष्ट्रमंडल सांसद् सम्मेलन के लिए भारत सरकार (पश्चिम बंगाल) के प्रतिनिधि-मंडल के एक सदस्य रूप में जमैका गये। नवंबर में हाइती के पोर्त-ओ-प्रिंस भी गये।

8 फरवरी, 1965 को चटर्जी ने पश्चिम बंगाल विधान परिषद् की अध्यक्षता से इस्तीफ़ा दे दिया और मानविकी निकाय के लिए भारत के राष्ट्रीय प्राध्यापक का नया कार्यभार सँभाला। अपने देहावसान (29 मई, 1977) तक वे इस पद पर आसीन थे।

मार्च से मई, 1966 तक चटर्जी ने भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा संयोजित मित्र देशों के साथ सांस्कृतिक विनिमय के अधीन भाषण-यात्राएँ कीं। वे काहिरा, अदिस अबाबा, एथेंस, बुखारेस्त, पेरिस, लंदन, प्राहा, पूर्वी बर्लिन, मास्को, रिगा, विल्निस तथा एरेवान गये। इन सभी स्थलों पर विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों में उन्होंने भाषण किये। उसी वर्ष पतझर में तेहरान में आयोजित ईरान-विशेषज्ञों की विश्व कांग्रेस में भाग लेने के लिए उनको निमंत्रण मिला। इसमें उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण आलेख पढ़ा, जिसे कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया। वे इस्पहान, शीराज़, पर्सेपोलिस और नक्श-ए-रुस्तम गये। इसके बाद उन्होंने जार्जिया के राष्ट्रीय कवि श्लोथा रुस्तावेली की आठ सौवीं जन्म-जयंती मेंभाग लिया। इस अवसर पर उन्होंने रुस्तावेली की श्रेष्ठ कृति **वेपिखश-त्काओस्नी** (शेर की खाल में आदमी) पर एक पर्चा पढ़ा। उन्होंने एरेवान का एक बार और भ्रमण किया और भारत-आर्मीनियाई व्यापार से संबंधित एक पुराने, सत्रहवीं सदी के आर्मीनियाई दस्तावेज़ के संबंध में, मातेनादरन में, विद्वानों से मुलाक़ात की।

अगस्त, 1967 में चटर्जी ने निमंत्रण पर ऐन आर्बर, मिशिगन (संयुक्त राज्य अमरीका) में आयोजित प्राच्यविदों की सत्ताइसवीं कांग्रेस में भाग लिया। अमरीका से वे योरोप गये और बुखारेस्त (रोमानिया) में भाषाशास्त्रियों के दसवें अंतर्राष्ट्रीय

सम्मेलन में शामिल हुए।

जनवरी, 1968 में चटर्जी ने मद्रास में आयोजित तमिल अध्ययन से संबंधित दूसरे अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार में भाग लिया।

1968 के बाद चटर्जी कुछ वर्षों तक भारत के बाहर नहीं गये। दिसंबर, 1970 में उन्होंने लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ़ इंडिया तथा डेक्कन कालेज के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित अखिल भारतीय भाषाशास्त्रियों के सम्मेलन की अध्यक्षता की। जून, 1971 में चटर्जी ने त्रिवेंद्रम में द्रविड़ भाषाशास्त्रियों के पहले सम्मेलन का उद्घाटन किया और उसी वर्ष भाषाशास्त्र की सातवीं अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में भाग लेने के लिए मांट्रियाल (कनाडा) गये। वहाँ भी उन्होंने एक आलेख पढ़ा। वहाँ वे कांग्रेस की संयोजक समिति के उपाध्यक्ष बनाये गए। कुछ महीनों बाद ईरान सरकार के निमंत्रण पर साइप्रस महान् द्वारा आखेमेनियाई राजवंश की स्थापना की 2500 वर्षगाँठ समारोह में शरीक़ हुए। वहाँ दिए गये उनके संबोधन-भाषण को बाद में प्रकाशन के लिए विस्तृत विनिबंध का रूप मिला। अप्रैल 74 में वे टेम्पलटन फ़ाउंडेशन के सदस्य रूप में लंदन गये और उसी वर्ष दिसंबर में ढाका (बाङ्लादेश) की यात्रा की, बाङ्ला भाषा एवं साहित्य संबंधी अपने योगदान के लिए बाङ्लादेश की एशियाटिक सोसाइटी का स्वर्णपदक स्वीकार करने के लिए। जून, 1975 में उन्होंने संस्कृत अध्ययन की दूसरी अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में भाग लिया।

दिसंबर, 1975 में दूसरे अंतर्राष्ट्रीय रामायण संगोष्ठी का आयोजन हुआ। चटर्जी ने इसमें रामायण पर एक आशु-भाषण किया। 15 जनवरी, 1976 को उन्होंने कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा आयोजित गोष्ठी में रामायण संबंधी समस्याओं को विवेचन का विषय बनाया।

इसी वर्ष फरवरी में साहित्य अकादेमी की क्षेत्रीय शाखा ने नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता में रामायण पर संगोष्ठी आयोजित की थी। चटर्जी ने वहाँ एक भाषण किया। वे इस महाकाव्य पर एक ग्रंथ लिखने का इरादा भी रखते थे। लेकिन क्रमशः क्षीण होती जा रही दृष्टि उनके सामने बाधा बन गयी। दिल्ली तथा कलकत्ता में रामायण पर किये गये उनके भाषण मरणोपरांत एक विनिबंध के रूप में प्रकाशित हुए हैं।

जनवरी, 1977 में कलकत्ता में साहित्य अकादेमी की क्षेत्रीय शाखा के तत्त्वावधान में आयोजित 'पूर्वी भारतीय साहित्य में कथा साहित्य' विषय पर संगोष्ठी का उद्घाटन हुआ। यही वह अंतिम सार्वजनिक समारोह था, जिसमें चटर्जी उपस्थित हो सके थे।

विद्वत्कर्म

सुनीतिकुमार चटर्जी की विद्वत्ता को रोम (1961), दिल्ली (1965), विश्व भारती (1966), उस्मानिया (1968) तथा कलकत्ता (1969) जैसे विदेशी एवं देशी विश्वविद्यालयों ने डॉक्टर (आचार्य) की मानद उपाधि से विभूषित करके यथोचित मान्यता दी। भारत तथा विदेशों के उच्च अकादमिक निकायों ने उनको फ़ैलो, मानद सदस्य, उपाध्यक्ष अथवा अध्यक्ष मनोनीत करके उनको सम्मानित किया। चटर्जी 1936 में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के फ़ैलो चुने गये। 1938 में वे पेरिस की **कोमिते ऐंतरनास्योनाल पेर्मानों द लेंगिस्त** के सदस्य बनाए गये। वे निम्न संस्थाओं के मानद सदस्य चुने गये : पोलैंड का प्राच्यविद्या संस्थान (1938), पेरिस की सोसियते आसिआतिक (1946), सैगोन, पेरिस के एकोल फ्रांसुआ द ल 'एत्रीम-ओरिआं' (1949), उटरेख्ट (हालैंड) की प्रांतीय गेनूटशाय फान कुंस्ट फान वेटेनशापेन (1950), ओसलो (नार्वे) की विज्ञान अकादेमी (1934), बैंकाक की स्याम सोसाइटी (1957), लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ़ अमरीका (1958), रोम (इटली) के नियर एंड फ़ार ईस्ट (1961) हेलसिंकी स्थित भाषा-शास्त्र की स्थायी परिषद् (1961) श्रीलंका की लिंग्विस्टिक सोसाइटी (1963) इत्यादि।

चटर्जी निम्नलिखित अकादेमियों तथा सांस्कृतिक निकायों के अध्यक्ष चुने गये थे : कलकत्ता विश्वविद्यालय की पोस्टग्रेजुएट आर्ट्स काउंसिल (1951), कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी (इसमें उन्होंने दो अवसरों पर (1953-55, 1970-72) चार साल तक काम किया); इंटरनेशनल फ़ोनेटिक एसोसियेशन (1969), अपने गुरु-संस्थापक और सदस्य प्रोफ़ेसर डेनियल जोंस के बाद। सम्मान के रूप में उन्हें देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों तथा विद्वत्संस्थाओं से अनेक पदक, प्रशस्तियाँ और प्रमाण-पत्र मिले। फरवरी 1968 में वे साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली के उपाध्यक्ष चुने गये और 1969 में इसके अध्यक्ष। 87 वर्ष की आयु में अपने देहावसान के समय चटर्जी दो पदों पर विद्यमान थे : मानविकी के क्षेत्र में राष्ट्रीय प्राध्यापक तथा साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष। वे बड़ी सहजता से कुछ और वर्षों तक सक्रिय बने रह सकते थे। मोतिया बिन्द के एक सफल आपरेशन के कुछ दिनों बाद ही आकस्मिक रूप से पड़े दिल के दौरे से उनका देहावसान हुआ। यह निश्चय ही एक त्रासदीपूर्ण घटना थी।

विद्वान् एवं शिक्षक

सुनीतिकुमार चटर्जी एक गम्भीर अध्येता और जागरूक व्यक्ति थे। वे किसी सुपरिचित अकादमिक श्रेणी में नहीं आते थे। वे पुस्तकों के धुरंधर पाठक थे लेकिन किताबी कीड़ा नहीं। कर्म एवं रुचि दोनों ही दृष्टियों से वे अध्यापन के उपयुक्त थे। लेकिन कक्षा में वे पूरे तौर पर उत्फुल्ल नहीं मिलते थे। उनकी दृष्टि मुद्रित पृष्ठ से अलग चीज़ों को पढ़ने के लिए बराबर फड़कती रहती थी। कक्षा की चारदीवारी के बाहर ही अध्यापन का सुख लेना वे चाहते थे। बौद्धिक व्यसन से अलग उनके मुख्य क्रिया-कलापों का मोटे तौर पर विवरण हमने पहले दिया है, जो यह सिद्ध करता है कि चटर्जी पीठासीन मुनि की तरह के नहीं बल्कि ऋषि अथवा चरक की भाँति के विद्वान् थे। सीखना उन्होंने कभी स्थगित नहीं किया, एक सच्चा अध्येता करता भी नहीं। उनकी भूख यह जानने और समझ पाने की थी कि मनुष्य ने अतीत में कभी क्या-कुछ किया है और अब वर्तमान में—वह क्या कर रहा है ? इसी भूख ने उनमें एक प्रकार की बेचैनी भर दी थी जो नियमित अंतराल पर, कभी-कभी अधिकाधिक आवृत्ति के साथ, उन्हें विदेश जाने के लिए प्रेरित करती थी। इसी परिव्राजक प्रवृत्ति ने उनके चुने हुए विषय भाषाशास्त्र में गहन शोधकर्म की संभावना को सीमित कर दिया। लेकिन इसी तथ्य ने उन्हें मध्य बीसवीं सदी के अकादमिक क्षेत्र में एक बेजोड़ व्यक्तित्व बना दिया—भारतीय विद्वत्ता और संस्कृति का सच्चा संदेशवाहक। चटर्जी सर्वपल्ली राधाकृष्णन के गहन प्रशंसक थे। राधाकृष्णन भी चटर्जी को बहुत चाहते थे। यह स्वाभाविक ही था कि विश्व भ्रमण की दृष्टि से, संस्कृति एवं विद्वत्ता के फेरीवाले के रूप में, चटर्जी इस विख्यात दार्शनिक को भी मात दे दें। रवीन्द्रनाथ ने साहित्य एवं चिंतन के लिए जो किया, वही चटर्जी ने भाषाशास्त्र, वाङ्मय मीमांसा और संस्कृति के लिए किया : वे पूरब और पश्चिम को और पास लाने में सहायक हुए।

कलकत्ता विश्वविद्यालय की कक्षाओं में चटर्जी एक सफल शिक्षक सिद्ध नहीं हुए क्योंकि उनके भाषण आमतौर पर औसत छात्र की पहुँच से परे होते थे। दूसरे शब्दों में, छात्रों को विषय से संबंधित परीक्षोपयोगी सामग्री देने तक ही वे स्वयं को सीमित नहीं कर सकते थे, जो उन्हें अच्छी श्रेणी लेने में सहायक होती। लेकिन

कक्षा के बाहर वे विश्वविद्यालय प्राध्यापक की पूरी विशिष्टता के साथ उपलब्ध होते थे। कोई भी, किसी भी समय उनसे बिना दिक्कत के कुछ भी सीख सकता था। ज्ञान के इस स्रोत से कुछ अच्छे शोधकर्मी तथा कुछ उपयुक्त जिज्ञासु व्यक्ति ही अपनी प्यास बुझा सकते थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय में अपनी सेवाओं के अंतिम समय में चटर्जी ने इस्तीफ़ा दे दिया था। जो पद उन्होंने स्वीकार किया था, वह एक राजनीतिक पीठ प्रतीत होगा। लेकिन चटर्जी कभी राजनेता नहीं रहे और राजनीति-प्रेरित नियुक्ति उन्हें कभी रास नहीं आयी। अपने एक मित्र से उन्होंने कहा भी था कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में अपनी सेवाओं की अवधि और बढ़ाये जाने के बारे में आश्वस्त न होने के कारण ही उन्होंने इस पद को स्वीकार किया था। शायद वे सर्वपल्ली राधाकृष्णन के पदचिह्नों पर चलना चाहते थे।

उपलब्धियाँ

1926 में **द ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ़ द बेंगाली लैंग्वेज** के प्रकाशन के समय ही सुनीतिकुमार चटर्जी को भारतीय भाषाशास्त्र के क्षेत्र में प्रमुख भारतीय व्यक्ति के रूप में मान्यता मिल गयी थी। अंग्रेज़ी का गहन ज्ञान, संस्कृत भाषा से सम्यक् परिचय, डेनियल जोंस जैसे गुरुओं के अधीन लंदन में भाषाशास्त्र के प्रशिक्षण, वाङ्मय मीमांसा एवं भाषाशास्त्र के क्षेत्र में किन्हीं शीर्षस्थ व्यक्तियों के अधीन पेरिस तथा लंदन में भाषणों में उनकी उपस्थिति—इन सभी कारकों ने मिलकर एक तरुण अध्येता के रूप में उन्हें अद्वितीय बना दिया था। इसके अलावा फ़ारसी और अरबी भाषाओं पर प्रवीणता ने उन्हें एक बहुमुखी-प्रतिभा-संपन्न विद्वान् बना दिया था जो पुरानी तथा नयी सभी भारतीय भाषाओं के इतिहास पर आत्मविश्वास के साथ बोल सकता था। वे योरोपीय भाषाओं में फ्रेंच बहुत अच्छी तरह जानते थे और जर्मन का उन्हें संतोषजनक ज्ञान था। वे इतावली, स्पैनिश तथा कुछ अन्य भाषाएँ उन भाषाभाषियों की भाँति ही बोल सकते थे, बहुत अधिक जानकारी न होने पर भी। उन्होंने थोड़ी-बहुत चीनी भाषा भी सीखी थी।

बहरहाल, चटर्जी की रुचि मृत भाषाओं की अपेक्षा जीवंत भाषाओं में अधिक थी। इसीलिए उनका आधारक्षेत्र भाषाशास्त्र और ध्वनि ग्राम विज्ञान था। उनकी सबसे पहली महत्त्वपूर्ण अनुसंधान कृति, **ए ब्रीफ़ स्केच ऑफ़ बेंगाली फ़ोनेटिक्स** (बुलेटिन ऑफ़ द स्कूल ऑफ़ ओरियंटल स्टडीज़, ग्रंथ-II, भाग-I, 1921 में प्रकाशित) भारतीय भाषाशास्त्र को उनका सर्वाधिक असाधारण योगदान है। बाङ्ला भाषा के इतिहास का अनुशीलन हार्नेल, बीम्स तथा ग्रियर्सन ने भी किया था लेकिन अनेक महत्त्वपूर्ण बिंदु ऐसे थे जो योरोपीय विद्वानों की दृष्टि से अनदेखे रह गये थे। बीम्स के व्यापक कृतित्व में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कुछ सुधार किया था, लेकिन बाङ्ला भाषा के प्रकांड पंडित होते हुए भी रवीन्द्रनाथ को एक अकादमिक भाषाशास्त्री जैसा प्रशिक्षण प्राप्त नहीं था। वस्तुतः चटर्जी ने वह कार्य संपन्न किया जो रवीन्द्रनाथ शायद ही कर पाते, यदि वे गंभीर प्रयास करते। रवीन्द्रनाथ इस बात से अवगत थे और चटर्जी की सर्वश्रेष्ठ कृति के सर्वोत्तम प्रशंसकों में एक वे थे।

रवीन्द्रनाथ ने चटर्जी को अपनी एक पुस्तक समर्पित करते हुए उन्हें भाषाचार्य की संज्ञा दी थी।

अपने गुरु जूल ब्लाख की पुस्तक **ल फोर्मास्यों द ला लांग मराठी** (1920) के आदर्श का अनुसरण करते हुए ही चटर्जी ने बाङ्ला भाषा के इतिहास को एक ठोस आधार दिया। उनके सामने कुछ नयी सामग्रियाँ भी थीं—पुरानी बाङ्ला (बल्कि बाङ्ला से मिलती-जुलती भाषा) के **चर्यापद**, जिन्हें नेपाल से हरिप्रसाद शास्त्री ने खोज निकाला था और चंडीदास की एक खो चुकी कृति की पांडुलिपि—जिसे वसंत रंजन रे ने बाँकुड़ा जिले के एक दूरस्थ गाँव में प्राप्त किया था। इन दो खोजों से उन्हें ऐसे मूल्यवान् तथ्य मिले जो उनसे पहले के अनुसंधानकर्मियों को प्राप्त नहीं थे। बाङ्ला भाषा के विकास के समुचित बोध की दिशा में चटर्जी का निश्चित योगदान था ध्वनिग्रामीय स्तरों का निर्धारण, जो इस क्षेत्र में किये गये अनेक कार्यों में नहीं हुआ था। उन्होंने **अपह्नुति** (ध्वनि-सन्निवेश) और **स्वरसंगति** जैसे तकनीकी पदों से अभिहित ध्वनिग्रामीय क्रियाओं से ठीक-ठाक संचालन की रूपरेखा दी। उनके द्वारा बंगाली की स्वन-प्रक्रिया पर किए गये कार्य से वह बाधा भी दूर हो गयी जो बाङ्ला भाषा की विभिन्न बोलियों के पारस्परिक संबंध को भली-भाँति समझने में आती थी। स्वनिम परिवर्तन से संबंधित महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं के लिए चटर्जी ने कुछ बाङ्ला शब्द रचे जैसे 'अब्लांट' अथवा 'वॉवेल ग्रेडेशन' के लिए **अपश्रुति**, 'एपेंथिसिस' के लिए **अपह्नुति** और 'वॉवेल-हार्मोनी' के लिए **स्वर-संगति**। उनके द्वारा गढ़े गये शब्द भारत की सभी मातृभाषाओं के भाषाविशेषज्ञों द्वारा स्वीकार किये गये।

चटर्जी ने बाङ्ला में बोलियों के विचलन का व्यापक विवेचन नहीं किया है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया' में डॉ. ग्रियर्सन ने बाङ्ला समेत सारी भाषाओं को सम्मिलित किया है। ग्रियर्सन से भी परे जाने के लिए और भारत का एक सटीक भाषिक मानचित्र उकेरने के लिए दस-पंद्रह वर्षों के श्रमसाध्य शोधकर्म की आवश्यकता होती। वे यह कर तो सकते थे, लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा करने में समर्थ नहीं हुए, शायद विश्वविद्यालय में शिक्षण-कार्य के अत्यधिक दबाव के कारण। खोया हुआ अवसर फिर नहीं मिलता। भारत के विभाजन और फिर पाकिस्तान के भी दो भागों में बँट जाने के बाद व्यापक एवं बारंबार निष्क्रमण हुए हैं जिनको अब भी पूरी तरह रोका नहीं जा सका है। इससे, विशेषकर पश्चिम बंगाल में, बोलियों के क्षेत्रों का ऐतिहासिक स्वरूप आशातीत सीमा तक उलट-पुलट गया है।

बाङ्ला भाषा की शब्दावली का चटर्जी द्वारा अनुशीलन लगभग पूर्ण और अंतिम है। किंतु उनके द्वारा जातीय अथवा आस्ट्रिक मूल के बताए गये कुछ शब्द परवर्ती शोध से भिन्न सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि डॉ. चटर्जी का विवेचन कभी-कभी अनुमानमूलक होता था।

कुछ अन्य भारोपीय भाषाओं के हमारे वैज्ञानिक बोध में डॉ. चटर्जी का योगदान किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं है। पुरानी मैथिली भाषा के ग्रंथ **'वर्ण रत्नाकर'** (1940) के लिए लिखी उनकी भाषा समालोचना तथा भाषाशास्त्रीय प्रस्तावना, जिसका संपादन उन्होंने पंडित बबुआ मिश्र के सहयोग से किया था, वास्तव में मैथिली भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण की रूपरेखा है। उसी प्रकार मुनि जिनविजय द्वारा संपादित **'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण'** (1953) के लिए उनकी प्रस्तावना अवधी (अथवा कोशली) भाषा के भाषाशास्त्रीय इतिहास का उत्कर्ष है।

हिंदी तथा उर्दू भाषाओं से संबंधित डॉ. चटर्जी का योगदान मुख्यतः उनकी पुस्तक **इंडो-आर्यन एंड हिंदी** (1942, संशोधित एवं परिवर्धित द्वितीय संस्करण, 1960) है। इस पुस्तक की अंतर्वस्तु अहमदाबाद की गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी (अब गुजरात विद्या सभा) के रिसर्च एंड पोस्टग्रैजुएट डिपार्टमेंट के लिए तैयार किये गये व्याख्यान हैं। इसका हिंदी अनुवाद 1954 में प्रकाशित हुआ था।

राजस्थानी एक अन्य भारोपीय भाषा है जिसका सम्यक् अनुशीलन डॉ. चटर्जी ने किया था। 27-29 जनवरी, 1947 को उन्होंने उदयपुर के एक अकादमिक संस्थान में राजस्थानी भाषा से संबंधित तीन व्याख्यान दिये। ये भाषण हिंदी में ही किये गये थे और वे 1949 में उदयपुर से एक विनिबंध के रूप में **राजस्थानी भाषा** शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुए।

जहाँ अन्य भारतीय, द्रविड़, आस्ट्रिक तथा भारोपीय भाषाओं का प्रश्न आता है, उनके मूल्यवान् एवं मौलिक अवलोकन अनेकानेक निबंधों एवं प्रपत्रों में बिखरे पड़े हैं, जो अधिकांशतः अंग्रेज़ी तथा बाङ्ला और कुछेक हिंदी में लिखे गये हैं। अंग्रेज़ी में कुछ रचनाएँ ये हैं : **रिकर्सिव्ज इन न्यू इंडो-आर्यन** (1931), खारवेल (1933), द प्रोनेंसियेशन ऑफ़ संस्कृत (1934, 1960), द ओल्डेस्ट ग्रामर ऑफ़ हिंदुस्तानी (1935), ए रोमन अल्फ़ाबेट फ़ॉर इंडिया (1935, पूर्णतः संशोधित तथा यथेष्ट परिवर्तित संस्करण, 1972), नान-आर्यन एलिमेंट्स इन इंडो-आर्यन (1936), इवॉल्यूशन इन स्पीच साउंड्स (1938), सम इटिमोलॉजिकल नोट्स (1939), सम ईरानियन लोन-वर्ड्स इन इंडो-आर्यन (1944), एन अर्ली अरेबिक वर्सन ऑफ़ द महाभारत स्टोरी (1949-50), फॉरेनर्स एंड इंडियन नेम्स : द पंजाब स्पीच थ्रू द एजेज़ (1950), ओल्ड तमिल, ऐंसियंट तमिल ऐंड प्रीमिटिव द्रविडियन (1954), द नेम 'असम-अहोम' (1957), द्रविडियन फ़िलोलॉजी (1957), म्युचुअल बारोइंग्स इन इंडो-आर्यन (1960), लेवल्स ऑफ़ लिंग्विस्टिक एनेलिसिस (1962), ग्लोटल एस्पिरेंट्स एंड द ग्लोटल स्टाप इन द एस्पिरेट्स इन न्यू इंडो-आर्यन (1964), द करेस्पांडेंस बिट्वीन साउंड ऐंड फ़ोनीम इन द लाइट ऑफ़ मॉडर्न लिंग्विस्टिक थियेरीज़ (1966), सम ईरानियन एंड तुर्की लोंस इन संस्कृत (1967), गंगारिदइ (1968), द एलोक्वेंस ऑफ़ वेगनेस

लिंग्विस्टिक नोट्स-II (1968), आर्थोग्राफ़ी एंड फ़ोनेटिक्स : प्रोनेंसियेशन एंड ट्रेडिशनल स्पैलिंग इन लैंग्वेजेज़, पार्टिकुलरली इन इंडिया (1969), बैकग्राउंड ऑफ़ द स्पोकेन वर्ड इन द स्पीच-लोर ऑफ़ इंडिया (1972) इत्यादि।

भारोपीय भाषाशास्त्र में अत्यधिक रुचि रखते हुए भी चटर्जी ने इस क्षेत्र में समुचित कल्पनाप्रवणता का परिचय नहीं दिया है। वे पुरानी भारोपीय भाषाओं में अभिरुचि रखते थे, उनके वाच्य प्रकार की अपेक्षा। **बाल्ट्स एंड आर्यन्स** (1968) की प्रस्तावना में उन्होंने अपने कालेज के दिनों के बारे में लिखा है :

> "सभी भारोपीय जनसमुदायों के मिथक, पुराकथाएँ तथा वीरगाथाएँ मेरी उत्कट आकांक्षा का विषय बन गयी'''होमर, होमरिका तथा हेसियोड (त्रासदी-प्रधान काव्यकार) तथा ग्रीस के अन्य लेखकों से शुरू होकर, ग्रीस के मिथकों और पुराकथाओं का मृत्युंजय सौंदर्य—ये सभी वहाँ थे, मूल तथा अनुवाद दोनों ही रूपों में सरल सुलभ। जहाँ तक बाल्ट्स के पूर्ववर्ती साहित्य का प्रश्न है, मुझे लगभग पचास साल पहले ही लिथुआनिया के डाइनास का पता चल गया था, और जर्मन तथा अंग्रेज़ी अनुवादों की सहायता से उनमें से कुछ को मैंने पढ़ लिया था।"

बाल्ट्स एंड आर्यन्स (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ एड्वांस्ड स्टडीज़, 1968) पुस्तक भारोपीय वाङ्मीमांसा में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। अक्टूबर, 1966 में चटर्जी ने इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ एड्वांस्ड स्टडीज़, शिमला में भारोपीय संस्कृति एवं भाषाशास्त्र के कुछ पहलुओं पर छः भाषण किये। उपर्युक्त पुस्तक उन भाषणों पर ही आधारित है। लेखक के शब्दों में :

> "**बाल्ट्स एंड आर्यन्स** पुस्तक का उद्देश्य एक साथ ही विज्ञान सम्मत तथा लोकोपयोगी होना है। इसका विशेष प्रयोजन है बल्कि विश्व के बारे में, भारतीय एवं भारोपीय भाषा-मीमांसा एवं संस्कृति का कुछ पूर्णज्ञान रखने-वाले अंग्रेज़ी पाठकों को तथा विशेष रूप से भारतीयों की कुछ जानकारी देना। इसका एक अन्य उद्देश्य भारत के आर्य विश्व के किन्हीं पहलुओं को बाल्टिक जनसमुदाय के सामने लाना भी है।"

भारोपीय भाषाशास्त्र का विवेचन उनके कुछ आलेखों में हुआ है, जिनमें से निम्नांकित महत्त्वपूर्ण है : प्रि-इंडो-योरोपियन (1942), रेस मूवमेंट्स एंड प्रि-हिस्टॉरिक कल्चर (1951), द वर्ड एबाउट ईगर्स फ़ोक (1960), अमेरिकन हीरो-लीजेंड्स एंड द एपिक ऑफ़ डेविड सासुन (1961), सम इंडो-योरोपियन

ट्राइबल नेम्स : लोंस एंड इनहेरिटेंसेज (1967), वेद-संहिता बाल्टिक (1968), सम लिंग्विस्टिक नोट्स (I), एपूर सी मौव (1968), सम लिंग्विस्टिक नोट्स (III) : द लिगेसी ऑफ़ द पास्ट एंड द इंपैक्ट ऑफ़ द प्रेजेंट (1968), संस्कृत 'गोविंद' : ओल्ड आइरिश 'बोअंड' (1970)।

दीक्षा एवं कर्म से सुनीतिकुमार चटर्जी एक भाषाशास्त्री थे लेकिन अपने अंतर्मन से वे एक कलाप्रेमी थे। रेखाचित्र, चित्रकला, मॉडेलिंग, स्थापत्य, वास्तुकला, संगीत-कला का कोई भी रूप हो, दरअसल वह प्रत्येक क्रिया-कलाप, जिसमें इतिहास की सुदीर्घ प्रक्रिया में मनुष्य ने श्रेष्ठता अर्जित की है, उनके प्रिय विषय थे। मन में वह जन्म से ही परिव्राजक प्रवृत्ति के थे और किसी एक स्थान पर टिके नहीं रह सकते थे। संस्कृति एवं कला के लिए उनकी तीव्र पिपासा ही थी जो कलकत्ता अथवा भारत से बाहर जाने के लिए छोटे-से-छोटा बहाना ढूँढ़ने के लिए उन्हें प्रेरित करती थी। कला एवं संस्कृति विषयों पर चटर्जी का लेखन उतना ही विपुल है जितना कि भाषा के विज्ञान पर।

अंग्रेज़ी भाषा में उनके प्रारंभिक लेख 1913 में बंगाल एजुकेशन जर्नल में प्रकाशित हुए थे, जबकि वे छात्र ही थे। ये लेख थे 'कलकत्ता का छात्र-जीवन' तथा 'कलकत्ता की छात्रावास-चर्या'। दूसरा लेख स्वयं लेखक के रेखाचित्रों से अलंकृत था। चित्र-रेखांकन जीवन-भर उनकी अभिरुचि का विषय रहा।

बंगाली में उनकी प्रथम रचना 1916 में साहित्य परिषद् पत्रिका में प्रकाशित हुई।

1976 में उन्होंने तीन परियोजनाएँ हाथ में लीं : (I) बाङ्ला भाषा में अपनी आत्मकथा (जीवन कथा शीर्षक से) जिसे उन्होंने जनवरी, 1976 के आरंभ में लिखना शुरू किया, (II) अंग्रेज़ी में **रामायण** पर एक विनिबंध और (III) दिसंबर, 1976 के पहले सप्ताह में शुरू की गयी पुस्तक 'रवीन्द्र-जीवनदेवता'। लेकिन तेजी से क्षीण होती जा रही दृष्टि के कारण वे इनके लेखन में अधिक सक्रिय नहीं हो पाये।

उनकी पुस्तकों में निम्नांकित महत्त्वपूर्ण हैं :

किरात-जन-कृति : द इंडो-मंगोलायड्स : देयर कांट्रीब्यूशन टु द हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ इंडिया (1947 की प्रतिभादेवी व्याख्यान-माला पर आधारित), एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता द्वारा 1951 में प्रकाशित। द्वितीय परिवर्धित संस्करण, 1974 ई.।

द प्लेस ऑफ़ असम इन द हिस्ट्री एंड सिविलाइजेशन ऑफ़ इंडिया (वाणी-कांत काकती स्मारक व्याख्यान-माला, 1954), गुवाहाटी विश्वविद्यालय द्वारा 1955 में प्रकाशित, पुनर्मुद्रण, 1970 ई.।

अफ्रीकानिज्म : द अफ्रीकन पर्सनैलिटी (सर्वपल्ली राधाकृष्णन के पुरोवाक् सहित) कलकत्ता, 1960,

इंडियनिज्म एंड इंडियन सिंथिसिस, कमला व्याख्यान-माला 1947, कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा 1962 में प्रकाशित।

द्रविडियन, अन्नामलाई विश्वविद्यालय में दिये गये तीन व्याख्यानों का संकलन। इसी विश्वविद्यालय द्वारा 1965 में प्रकाशित।

द पीपुल, लैंग्वेज एंड द कल्चर ऑफ़ ओरिसा (आर्तवल्लभ महांती स्मारक व्याख्यान-माला, ओड़िसा साहित्य अकादेमी, भुवनेश्वर द्वारा 1976 में प्रकाशित।

रेलिजस ऐंड कल्चरल इंटीग्रेशन ऑफ़ इंडिया : आत्मबपु शर्मा ऑफ़ मणिपुर (आत्मबपु शर्मा स्मारक व्याख्यानमाला) इंफाल, मणिपुर से 1967 में प्रकाशित।

इंडिया एंड इथियोपिया : फ्राम द सेवेंथ सेंचुरी बी. सी. एशियाटिक सोसाइटी मोनोग्राफ सीरीज़, संख्या 15, 1968 (1969 में प्रकाशित)।

वर्ल्ड लिटरेचर एंड टैगोर (विश्व भारती) शांतिनिकेतन, 1971 सेलेक्ट पेपर्स, खंड-I, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1972 (13 आलेखों का संकलन)

जयदेव : साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली (1978 में प्रकाशित)

इंडिया : ए पोलीग्लोट नेशन एंड इट्स लिंग्विस्टिक प्रॉब्लम्स (महात्मा गाँधी स्मारक व्याख्यानमाला, 3, 1973) महात्मा गाँधी मेमोरियल रिसर्च सेंटर, बंबई, 1974

द रामायण : इट्स कैरेक्टर, जेनेसिस, हिस्ट्री, एक्सपेंशन एंड इक्सोडस : ए.... प्रज्ञा, कलकत्ता, 1978

सेलेक्ट राइटिंग्स, खंड-I, विकास, नयी दिल्ली, 1978

डॉ. चटर्जी के निम्नांकित आलेख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं :

द रिवाइवल ऑफ़ इंडियन आर्ट एंड द लखनऊ स्कूल ऑफ़ आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स, मॉडर्न रिव्यू, अप्रैल, 1927

द पाल आर्ट ऑफ़ गौड एंड मगध, मॉडर्न रिव्यू, जनवरी, 1930।

सम प्रॉब्लम्स इन द ओरिजिन ऑफ़ आर्ट एंड कल्चर इन इंडिया, विश्व-भारती क्वार्टली, खंड-8, भाग-III, 1930-31

आर्ट इन क्वायंस, द फोर आर्ट्स, वार्षिक संख्या, 1935

रूपपति : 'द मास्टर ऑफ़ फार्म' मॉडर्न रिव्यू, जून, 1936

वेस्ट अफ्रीकन नीग्रो आर्ट : द ब्रोंजेज ऑफ़ बेनिन द फोर आर्ट्स, वार्षिक संख्या 1936-37

आंध्र आर्ट (रामलिंग रेड्डी षष्ट्याब्द पूर्ति ग्रंथ, भाग-II) वाल्टेयर, 1940

बुद्धिस्ट सर्वाइवल्स इन बंगाल, बी. सी. लॉ ग्रंथ, खंड-I, कलकत्ता, 1945

सर विलियम जोंस 1746-94 एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1946

इस्लामिक मिस्टिसिज्म ईरान एंड इंडिया (इंडो-ईरानिका, खंड-I संख्या 2, अक्टूबर, 1945)

कृष्ण द्वैपायन व्यास एंड कृष्ण वासुदेव : एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1950

अल-बिरुनी एंड संस्कृत : अल-बिरुनी स्मृति ग्रंथ, ईरान सोसाइटी, कलकत्ता, 1951।

रेस मूवमेंट्स एंड प्रि-हिस्टारिक कल्चर (द हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ द इंडियन पीपुल, खंड-I, 1951)

इंडिया एंड चाइना : ऐंसियंट कांटैक्ट्स : एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1960. (1961 में प्रसारित)

अवनीन्द्रनाथ टैगोर : मास्टर आर्टिस्ट एंड रेनोवेटर : अवनीन्द्रनाथ टैगोर स्वर्ण-जयंती संख्या, जर्नल ऑफ़ द इंडियन सोसाइटी ऑफ़ ओरियंटल आर्ट, कलकत्ता, 1961,

हिंदूज एंड तुर्क्स फ्रॉम प्रि-हिस्टॉरिक टाइम्स—इंडिया सेंट्रल एशिया—कांक्टैक्ट्स एंड लिंक्स।

I. क्षेत्रचंद्र चट्टोपाध्याय सम्मान ग्रंथ (गंगानाथ झा केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ जर्नल, जुलाई-अक्टूबर, 1971);

II. एस. के. डे स्मृति ग्रंथ (कलकत्ता, 1972);

III. गंगानाथ झा केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ जर्नल (1973)

शिशिरकुमार भादुरी के साथ

सुनीतिकुमार चटर्जी ने स्वांग एवं मंच-सज्जा के लिए रुचि अपने कॉलेज के दिनों में शिशिरकुमार भादुरी के निकट संपर्क से पायी थी। परवर्ती समय में भारत के एक श्रेष्ठतम अभिनेता और रंगकर्मी के रूप में मान्यता पानेवाले भादुरी के साथ चटर्जी की अंतरंग मित्रता आजीवन बनी रही। अन्य मित्र भी थे जिनको चटर्जी स्नेह एवं कृतज्ञता भाव के साथ याद करते थे। भादुरी के देहावसान के बाद उन पर बाङ्ला भाषा में लिखे अपने लेख में चटर्जी ने भादुरी के साथ अपने प्रारंभिक परिचय का विवरण दिया है। प्रासंगिक अंश यहाँ उद्धृत करना आवश्यक जान पड़ता है :

"दो साल इंटरमीडिएट पाठ्यक्रम में, दो साल ग्रैजुएट और दो साल पोस्टग्रैजुएट पाठ्यक्रम में, ये छः साल मेरे कॉलिज जीवन के साल थे। प्रारंभिक युवावस्था में छात्रजीवन के इन छः वर्षों का मैंने उस समय चलनेवाली सभी प्रकार की छात्र-गतिविधियों में भाग लेते हुए पूरी तरह उपयोग किया। मेरे परीक्षा-परिणाम हमेशा अति उत्तम रहे थे लेकिन किताबी कीड़ा मैं कभी नहीं रहा। अपनी ज्ञानेंद्रियाँ मैंने खुली रखी थीं। मेरी परिचय-परिधि एवं मित्र-मंडली में सभी प्रकार के छात्र आते थे––अच्छे, बुरे, उदासीन, सादगी-पसंद, चतुर, कपटी, झाँसेबाज़, नैतिकतावादी एवं अनैतिक, क्रोधी, विवेकशील, बुद्धिविहीन और अन्य प्रकार के। मेरे मित्रों तथा सहकर्मियों के बीच सर्वाधिक रूप-गुण-संपन्न थे शिशिरकुमार भादुरी। परीक्षाओं में उन्हें उच्च अंक नहीं मिलते थे लेकिन वे एक सुघड़ व्यक्ति थे : उनका रंग-ढंग आकर्षक और बात-चीत तेजस्वितापूर्ण होती थी। छात्र-समुदाय में लगभग एक दशक तक कलकत्ता विश्वविद्यालय के सर्वाधिक तेजस्वी तथा लोकप्रिय छात्र के रूप में उन्हें स्वीकार किया गया था। एक व्यक्ति के रूप में शिशिर निष्ठावान्, दो-टूक व्यवहार संपन्न तथा सच्चे और सरल ढंग वाले थे। उनके संपर्क में आने-वाले हम सभी सहज और संकोचहीन भाव से उनकी ओर खिंचे चले आते थे। यही एक मूल सूत्र था हमारी मित्र-मंडली और हमारे बीच मैत्री का, जो अंत तक अटूट रहा।

मुझे ठीक-ठीक याद नहीं कि मेरी पहली मुलाक़ात शिशिर से कब हुई। ऐसा लगता है कि 1908 में हमारे कॉलेज के प्रथम वर्ष के अंत में कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित वार्षिक पाठ-प्रतियोगिता में सह-स्पर्धी के रूप में उनसे मैं मिला था। यह पाठ-प्रतियोगिता अंग्रेज़ी, बाङ्ला, संस्कृत, फ़ारसी तथा अरबी—पाँच भाषाओं से हुई थी। शिशिर का नामांकन अंग्रेज़ी में पाठ के लिए हुआ था। मुझे याद नहीं कि इस अवसर पर कोई पुरस्कार उन्हें मिला था या नहीं, लेकिन मुझे तो कभी नहीं मिला। विश्व-विद्यालय संस्थान में यह मुलाक़ात शीघ्र ही शिशिर तथा मेरे बीच घनिष्ठता में बदल गयी। उसी वर्ष हमारे कॉलेज के विद्यार्थियों ने एक बाङ्ला नाटक का मंचन किया। प्रतापादित्य की भूमिका मेरे एक सुघड़ कक्षा-मित्र फणींद्रनाथ मित्र ने निभायी थी। एक अन्य कक्षा-मित्र शैलेंद्रनाथ बसु नायिका कल्याणी की भूमिका में आये थे। एक दृश्य मुझे विशेष रूप से याद आता है। दो लोलुप आततायियों के चंगुल से स्वयं को बचाने के लिए कल्याणी तलवार निकालकर उठ खड़ी ही हुई थी कि खिलौना बंदूक़ लिए प्रतापादित्य तथा सूर्यकांत एकाएक सामने आये। उसी क्षण पोटेशियम क्लोरेट से बने कुछ बम मंच के पीछे फटे। दोनों दुष्ट गिर पड़े जैसे कि मर गये हों। बहरहाल, मंच निर्देशन के मामले में कुछ असावधानी हो गयी थी। उन दुष्टों के भू-लुंठित होने के तीन-चार सेकंड बाद ही बंदूक़ चलायी गयी थी। इस व्यतिक्रम के कारण दर्शक-दीर्घा से हँसी का फ़व्वारा छूट पड़ा। मंच निर्देशक खीझ का अनुभव करने लगा था।

अगले वर्ष हमने शेक्सपियर के नाटक जूलियस सीज़र का मंचन किया। मैंने पूरा सहयोग किया, लेकिन कोई भूमिका निबाह नहीं, केवल वस्त्र-विन्यास एवं मंच-सज्जा का काम देखते हुए। शिशिर ने ब्रूटस की भूमिका निभायी। उन पर अच्छे फबनेवाले वस्त्रों का विन्यास मैंने किया। इस प्रस्तुति के बाद शिशिर तथा मैं और निकट आ गये। शेक्सपियर के नाटकों के उपयुक्त वस्त्र किराये पर लेने के लिए हमने एक एंग्लो-इंडियन ऑपेरा कंपनी से संपर्क किया था। उसका ऑफ़िस ग्रैंड होटल में था। 150/- रुपये अग्रिम भुगतान पर वे पोशाक देने के लिए तैयार हो गये। लेकिन जिस व्यक्ति को हमने यह धनराशि जमा करने का ज़िम्मा सौंपा था, अचानक वह ग़ायब हो गया। काफ़ी समय बाद तक हमें इसका पता नहीं चला, प्रस्तुति के दो या तीन दिन पहले ही हम जान पाये···

ग्रीक तथा रोमन इतिहास के गंभीर छात्र के रूप में उन जनसमुदायों की कला एवं अलंकारप्रियता के बारे में मुझमें एक दृष्टि बन चुकी थी। मेरी रुचि से मेरे कुछ मित्र अवगत थे। सहायता के लिए उन्होंने मुझसे प्रबल

आग्रह किया। मैंने स्वयं को इस कार्य के लिए प्रस्तुत किया और दो अन्य कक्षा-मित्रों, आनंद कृष्णसिंह (जो बाद में रिपन कॉलेज में अंग्रेज़ी के अध्यापक बने) और नीहार मित्र के साथ मैंने उनको आश्वस्त किया कि घबराने की कोई बात नहीं, रोमन वस्त्र-सज्जा एक बहुत सरल युक्ति है। सफ़ेद रेशमी कपड़े के एक टुकड़े को सिलकर चोगे का रूप दिया गया और एक अन्य टुकड़े को पंजाब शैली के कुर्ते का रूप दिया गया। चप्पलों का एक जोड़ा इसके साथ खूबी से फब गया। रंगीन कपड़े का एक टुकड़ा सिर के चारों ओर लपेट दिया गया। इस प्रकार आसानी से जुगाड़ की गयी रोमन वस्त्र-सज्जा की सभी ने प्रशंसा की। योरोपवासियों तथा आंग्ल-भारतीयों द्वारा धारण किये जानेवाले सोला हैट के ऊपरी भाग पर सुनहरी और रूपहली पन्नियाँ चिपकाकर और कार्डबोर्ड से बना मुकुट जोड़कर हैलमेट बना लिया गया। मूल वस्त्र-सज्जा के अनुरूप पंखों अथवा अयाल सरीखा दिखने के लिए मुकुट पर रुई का गाला लगा दिया गया। कार्डबोर्ड से ही बरछे बनाए गये। ढाल भी इसी प्रकार बनायी गयी जिस पर SPQR (सेनातस पापुलस क्यू रोमन्स) अंकित था और मादा चीता के स्तनों से दूध पीते रोमुलस एवं रेमस का दृश्य खिंचा था। पोर्शिया का ही एकमात्र नारी चरित्र था। यहाँ-वहाँ थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ एक लंबी शमीज़ से उसका वस्त्राभरण बड़ी सुगमता से तैयार कर लिया गया।

जब अभिनेता सफ़ेद रेशमी चोग़ा और पेस्टबोर्ड से बना हैलमेट लगाये, 'SPQR' अंकित पेस्टबोर्ड की ढाल लिए, और फिर लाल रोमन फ़ौजी कवच धारण किये हुए मंच पर आये तो हम सभी बड़े प्रभावित हुए। दर्शकों ने, जिनमें कुछ योरोपवासी भद्रजन भी थे, प्रशंसा में तालियाँ बजायीं। यह सब-कुछ मुझे अब एक किशोर की चुहल ही लगता है। बहरहाल, जूलियस सीज़र की प्रस्तुति वास्तव में एक सफलता थी। इसका श्रेय प्रमुख रूप से ब्रूटस की भूमिका में शिशिर को जाता है। मुझे अब उस व्यक्ति का नाम याद नहीं जिसने प्रतिनायक मार्क एंटोनी की भूमिका ली थी। चौथे वर्ष के उस छात्र ने भी अति उत्कृष्ट अभिनय किया था। वह शिशिर के ही समतुल्य था। पोर्शिया की भूमिका का निर्वाह भी अच्छी तरह हुआ था। इसे प्रथम वर्ष के एक छात्र जतीन गांगुली ने किया था।

आनंदसिंह, नीहार मित्र और मैं, हम तीनों की ऐतिहासिक एवं मंचीय वस्त्र-सज्जा के मामले में एक साख बन गयी। विश्वविद्यालय संस्थान में परवर्ती समय में चंद्रगुप्त, अशोक, जना तथा अन्य नाटकों की प्रस्तुतियों ने इस साख को और पुष्ट बनाया। जब शिशिर हमेशा के लिए कॉलेज शिक्षण छोड़कर और पूर्ण रंगकर्मी के रूप में मंच से जुड़ गये, तब हमारे अग्रजतुल्य

सुप्रसिद्ध इतिहासकार राखालदास बनर्जी ने हमारी प्रमुखता को सुनिश्चित किया। बनर्जी ने आलमगीर, सीता, दिग्विजयी इत्यादि नाटकों के मंचन में शिशिर की सहायता की। गिरीन सेन भी इसमें अत्यंत सहायक सिद्ध हुए।

यह मुख्यतः शिशिर के प्रयासों का ही नतीजा था कि भारतीय रंगकर्म में मंच-सज्जा की दृष्टि से एक क्रांतिकारी परिवर्तन-सा आ गया।

रंगकर्म तथा अन्य क्रिया-कलापों में शिशिर के साथ सहभागिता और बाङ्ला, अंग्रेज़ी एवं संस्कृति साहित्यों के संबंध में उनमें हुई मेरी वार्ताओं ने मुझे एक समचित्तता प्रदान की है, जिसे मैं अपने जीवन की एक महान् उपलब्धि मानता हूँ।"

बाङ्ला भाषा में लेखन

शिशिरकुमार भादुरी के बाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा उनकी रचनाओं ने डॉ. चटर्जी को सबसे अधिक प्रभावित किया था। भादुरी का प्रभाव तो प्रारंभिक जीवन में पड़ा था, लेकिन रवीन्द्रनाथ का प्रभाव हमेशा-हमेशा बना रहा, विशेषकर उनके जीवन के अंतिम कालखंड में। रवीन्द्रनाथ के प्रति उनमें एक आकर्षण भाव था, न केवल विश्व के महान् कवि एवं चिंतक रूप में, बल्कि एक सहकर्मी भाषाशास्त्री के रूप में भी अपनी पुस्तक '**वर्ल्ड लिटरेचर एंड टैगोर** (1971) के पुरोवाक् में डॉ. चटर्जी उस महाकवि के लिए एक प्रकार के विशेष लगाव की अनुभूति के साथ लिखते हैं :

> "रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बाङ्ला भाषा पर बाङ्ला में लिखी अपनी सर्वाधिक व्यंजना-संपन्न पुस्तक में अपने बारे में एक अवलोकन प्रस्तुत किया है जिसे मैं अधिकाधिक सच्चाई के साथ स्वयं पर लागू होते पाता हूँ। अपनी पुस्तक **बाङ्ला भाषा परिचय**, जो अनेक विज्ञानसम्मत विचारों तथा निष्कर्षों से भरपूर है, में वे बड़ी विनम्रता से विशेषकर भाषिक मामलों में पूर्ण वैज्ञानिक बोध एवं सटीकता दिखाते हैं और जैसा कि वे उचित ही बल देते हैं, वे विद्याध्ययन में ही गहरी रुचि रखते हैं और केवल यही बात सतहीपन अथवा सधे-बँधे ढर्रों से उनके दृष्टिकोण को उबार सकती है, और इसे अपने पाठकों के मन में उस प्रकार की गंभीर एवं विज्ञानसम्मत रुचि बनाए रखने में उसे सहायक बना सकती है; किन्हीं भूलों तथा क्षेपक-त्रुटियों के बावजूद, जिस पर सचमुच के वैज्ञानिक विशेषज्ञ नाक-भौं चढ़ा सकते हैं। भाषाशास्त्र, जिसे आमतौर पर अध्ययन का 'शिलाशुष्क' क्षेत्र माना जाता है, एक प्राध्यापक के रूप में—मेरे अपने मामले में भी, मैंने उसके तथा साहित्य के बारे में अपने विचार प्रतिपादित करने की उतावली दिखायी है।"

डॉ. चटर्जी कला एवं साहित्य के महान् प्रेमी थे। निस्संदेह, दृश्यकला के प्रति अपने दृष्टिकोण में वे क्लासिकी तत्वों के पक्षधर थे, लेकिन आधुनिकता के प्रति अरुचि भाव नहीं दिखाते थे। उदाहरण के लिए, वे अजंता की चित्रकला के परम

प्रशंसक थे लेकिन इसके साथ ही उन्होंने तथाकथित कालीघाट स्कूल के स्वजातीय चित्रकारों के रेखांकनों का भी उत्साह से मूल्यांकन किया था। स्वांग तथा संगीत कला के क्षेत्र में वे पूरी तरह शास्त्रीय शैली के पक्षधर थे। संगीत तथा रंगकर्म में समकालीन कला उन्हें कुछ रास नहीं आती थी। तानसेन के ध्रुपद गीत उन्हें मोह लेते थे जबकि कीर्तन गीतों की सर्वोत्तम प्रस्तुतियाँ भी उन्हें प्रभावित नहीं कर पाती थीं। साहित्य में भी उनका यही रूझान था। उनका झुकाव पूरी तरह शास्त्रीय एवं स्वीकृतलेखकों की ओर था। निस्संदेह, डॉ. चटर्जी रवीन्द्र-काव्य के प्रशंसक थे। लेकिन उनकी उत्साहयुक्त प्रशंसाएँ शास्त्रीय प्रांजलता एवं संरचना के गुणों के कारण ही हैं। वे सदा सर्वदा रवीन्द्रनाथ के गीतों के प्रशंसक बने रहे, लेकिन अपने जीवन की अंतिम बेला में वे रवीन्द्रनाथ के उन्हीं गीतों की ओर अधिक मुड़ते थे जो अधिक सुगम थे तथा उल्लासमयता के साथ रचे गये थे। वे विशेष रूप से उन कविताओं और गीतों से मुग्ध होते थे जो **जीवन-देवता** की विषयवस्तु से संबंधित होते थे। डॉ. चटर्जी के अनुसार रवीन्द्रनाथ की **जीवन-देवता** संबंधी अवधारणा "विश्व के रहस्यवादी काव्य में उनका एक विशेष एवं चारित्रिक योगदान है—सौंदर्य एवं प्रेमभावना के माध्यम से **परम ब्रह्म** के साक्षात्कार का आधार-बिंदु।"

डॉ. चटर्जी ने सूफ़ी मत का अध्ययन किया था और इस अध्ययन ने रवीन्द्रनाथ की **जीवन-देवता** की अवधारणा को उनके ही विचारों के प्रकाश में समझने में उनकी सहायता की थी। वे लिखते हैं :

> "रवीन्द्रनाथ के काव्य में **जीवन-देवता** की छवि अनेक रूपों और परि-वेशों में बारंबार उभरती है। यह कहा जा सकता है कि रवींद्रनाथ के रहस्यवादी-रोमांसमूलक काव्य के लिए यह एक केंद्रीय अवधारणा है। रवीन्द्र-नाथ के जीवन-देवता के समतुल्य छवि हमें सूफ़ी साहित्य में ही मिलेगी जिसमें परम ब्रह्म की अवधारणा एक **माशूक़ा**, विश्व की प्रियतमा के रूप में की गयी है। और फिर भी सूफ़ी अवधारणा का विशद वैयक्तिकीकरण तथा मानवी-करण नहीं हुआ है। मध्यकालीन योरोपीय रोमांस में वर्णित, राजकुमारों को प्रेम एवं सेवा के साथ ही वीरोचित कर्म एवं संघर्ष के लिए प्रेरित करनेवाली नारी सूफ़ियों की **माशूक़ा** तथा रवीन्द्रनाथ के **जीवन-देवता** से किंचित् समानता रखती है। हमें यूरापिडीज के नाटक हिप्पोलिटस की देवी आर्थेमिस के अशरीरी अस्तित्व की भी याद आती है। गेटे के महाकाव्यात्मक नाटक के दूसरे खंड के अंतर्गत फ़ाउस्ट की प्रेरणा के रूप में हेलेन को भी याद किया जा सकता है। और फिर 'दिविना कोमेदिया' (डिवाइन कॉमेडी) के वितिया नूवा तथा पाराडिजो तथा दोनों ही खंडों में उल्लिखित, रोमन कैथोलिक प्रतीक कथा एवं रहस्यवाद के मध्यकालीन कवि **दांते** की बिएट्रिस भी तो सामने आती है।

लेकिन बिएट्रिस एक पार्थिक एवं जीवंत व्यक्ति का एक आध्यात्मिक संप्रेरक एवं निर्देशक जैसे किसी रूप में उदात्तीकरण है, जबकि रवीन्द्रनाथ के जीवन-देवता ब्रह्मांडीय (पारलौकिक) तथा इहलौकिक दोनों ही प्रकार की शक्ति है, जिसने कवि के जीवन एवं अस्तित्व को आवृत्त किया है।"

जीवन-देवता संबंधी रवीन्द्रनाथ की कथावस्तु का डॉ. चटर्जी द्वारा अनुशीलन स्वयं उनके साहित्यिक एवं कला संबंधी विचारों तथा साथ-साथ उनके वैचारिक संस्कारों के अनिवार्यतः शास्त्रीय पैटर्न की पाठक को एक झलक देता है।

जीवनोल्लास

कोई विद्वान् तथा अकादमिक विरल ही बतरस में निपुण हो लेकिन सुनीतिकुमार चटर्जी इसके दुर्लभ अपवाद थे। वे एक 'दिलचस्प बातूनी व्यक्ति' थे। वे आशु एवं सहज रीति से विज्ञान एवं दर्शन के अतिरिक्त विश्व के किसी भी विषय पर बहस कर सकते थे। विद्वानों की टोली में अथवा मित्रों एवं परिचितों के बीच एक लोक-प्रिय छवि के साथ सामने आते थे। उनके एक मित्र ने कभी यह कहा था कि राष्ट्रीय प्राध्यापक चटर्जी भारत आनेवाली 'वी. आई. पी.' मंडलियों के लिए उत्तम कोटि के 'गाइड-इन-चीफ़' हो सकते थे।

चटर्जी खाने-पीने के मामले में बहुत चटोर थे। लेकिन विश्व के किसी भी भाग में खाये जानेवाले खाद्य से वे परहेज नहीं रखते थे। यह अक्सर देखा गया था कि साधारण गाँव के घर में अप्रत्याशित अतिथि के रूप में सूखा भात भी वे उसी चाव से खाते थे, जिस चाव से किसी मशहूर चीनी रेस्तोरां में स्वादिष्ट बिरियानी।

अपनी एक महत्त्वपूर्ण प्रारंभिक कविता में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि वे उस प्रकार के आध्यात्मिक मोक्ष की अभिलाषा नहीं करते जो कठिन परित्याग से ही सुलभ होती है ('वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय')। डॉ. चटर्जी के जीवन का यही मूलमंत्र था। वे अपने किसी भी सिद्धांत को तिलांजलि दिये बिना और बिना किसी व्यक्ति को क्षति पहुँचाए जीवन का यथासंभव रस लेना जानते थे। निस्संदेह, जीवन में श्रेष्ठ वस्तुओं की कामना वे करते थे, लेकिन इसके लिए वे विवाद नहीं करते थे। वे यह कभी नहीं भूले कि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हैं। एक ब्राह्मण के रूप में अपने सामाजिक कर्तव्यों तथा दायित्वों की उनमें पूर्ण चेतना थी।

किसी ब्राह्मण के लिए शास्त्रोक्त अधिकांश सारभूत धार्मिक निर्देशों का वे पालन करते थे। लेकिन अपने जीवन की अंतिम अवधि में वे कर्मकांडों में आस्था खोने लगे थे। अपने निकट संबंधियों तथा मित्रों में उन्होंने न केवल आंतर्जातिक विवाह को स्वीकृति दी बल्कि ऐसे विवाह समारोहों में स्वयं भी उपस्थित हुए। देहावसान के कुछ वर्ष पूर्व की उनकी आध्यात्मिक आस्थाओं का एक आकलन यहाँ प्रस्तुत है :

"प्रोफ़ेसर स्वयं को बौद्धिकता की दृष्टि से अज्ञेयवादी और भावना की दृष्टि से रहस्यवादी कहलाना चाहते हैं। वे वाह्य विश्व से प्रकाश पाने के लिए मन, प्राण के द्वार तथा वातायन खुला रखने का प्रयास करते हैं—'स्वर्ग से आसन्न चिनगारी के लिए भी, अपने अस्तित्व की गहराई में वे एक परम यथार्थ के लिए उत्कट लालसा, बल्कि उसके अस्तित्व में एक अपुष्ट आस्था रख पाने की बात भी स्वीकार करते हैं, एक यथार्थ, जो विज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान, दोनों ही के अनुसार, मेधा अथवा ज्ञान के रूप में उपलब्ध है; एक यथार्थ, जिसकी परिकल्पना और वाह्य अभिव्यक्ति प्रकृति और पुरुष दोनों ही में, अल्बर्ट आईंस्टाइन के शब्दों में, 'आह्लादक आश्चर्यभावना' के स्रोत हैं; एक यथार्थ जो एक कल्पनाशील व्यक्ति के लिए 'आनंद' के रूप में, रस अथवा रक्षानुभूति के रूप में उद्घाटित होता है।

जैसाकि वे स्वयं मानते हैं, योरोपीय सभ्यता के लिए उनके प्रेम तथा सम्मान भाव ने भारतीयता अथवा भारत धर्म की परंपरा में सुदृढ़ रूप से स्थापित होने में उनकी सहायता की है। इस भारतीयता को उन्होंने अपनी ही रीति से सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया है, जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का अनुसरण करते हुए। वेदांत दर्शन के लिए उनमें गहन श्रद्धाभाव था। लेकिन वे प्राचीन ग्रीक चिंतन, आरंभिक ताओवाद, अरब विश्व तथा ईरान एवं भारत दोनों ही के, सूफ़ीमत और ईसाई रहस्यवाद के महान् प्रशंसक रहे हैं।"[1]

1. सुनीतिकुमार चटर्जी: द स्कालर एंड द मैन, जिज्ञासा, कलकत्ता, 1970, पृ. 9.

समाकलन

एक व्याकरणशास्त्री शायद ही उस भाषा का अच्छा लेखक सिद्ध होता है जिसमें उसे विद्वत्ता प्राप्त है। सुनीतिकुमार चटर्जी इसका विरल अपवाद थे। वे एक महान् व्याकरणशास्त्री और बाङ्ला भाषा के विद्वान् थे। उन्हें बाङ्ला भाषा संबंधी अपनी बाङ्ला भाषा परिचय पुस्तक समर्पित करनेवाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें भाषाचार्य की संज्ञा दी थी। डॉ. चटर्जी बहुत अच्छी तरह बाङ्ला भाषा में लिख सकते थे और प्रचलित साहित्य शैलियों—साधु भाषा और चलित भाषा—दोनों ही में। बहरहाल, उनका झुकाव **प्रचलित भाषा** की ओर था। इस संबंध में उनको उस लेखक संप्रदाय से संबंधित माना जा सकता है जो 'प्रचलित भाषा' के महानतम प्रवर्त्तक प्रथम चौधुरी के नेतृत्व में जुटा था। चटर्जी प्रथम चौधुरी के प्रशंसक थे और चौधुरी एवं उनकी पत्नी इंदिरादेवी (रवीन्द्रनाथ की भाँजी) द्वारा आयोजित 'सांध्यसभाओं' में वे हमेशा एक सम्माननीय अतिथि होते थे। डॉ. चटर्जी श्री चौधुरी के साहित्यिक पत्र **सबुज पत्र** में भी लिखा करते थे। प्रचलित भाषा में लिखे उनके लेख इस पत्र में बाङ्ला संवत् 1325 (1918) से 1333 (1926) तक प्रकाशित होते रहे थे। श्री एवं श्रीमती चौधुरी के लिए डॉ चटर्जी का प्रशंसा भाव 'पथ-चलती' (1962)—स्मृति के आधार पर जुटाये गये आत्मकथात्मक एवं अन्य विषयों पर निबंधों के संकलन के प्रथम खंड के समर्पण में प्रतिबिंबित होता है।

गुण तथा अंतर्वस्तु किसी भी दृष्टि से बाङ्ला साहित्य को डॉ. चटर्जी का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। डॉ. चटर्जी कविता नहीं लिखते थे, इसके लिए समुचित योग्यता का उनमें अभाव था। उन्होंने कोई कथा-पुस्तक नहीं रची, इसके लिए उनमें कोई प्रेमभाव भी नहीं था। बहरहाल, उन्होंने उन सारी चीज़ों के बारे में लिखा जो वे अपने आसपास देखते थे, एक कलाकार अथवा उपन्यासकार जैसी अंतर्दृष्टि और अनुभूति के साथ। इस प्रकार उनकी दक्षता का क्षेत्र ऐसा लेखन था जिसकी अपेक्षा पत्रों, डायरियों तथा यात्रा-वृत्तांतों में की जाती है। यद्यपि चटर्जी ने डायरी जैसी कोई चीज़ नहीं लिखी, लेकिन उन्होंने कई ऐसे मूल्यवान् 'खंड' रखे हैं जिन्हें—डायरी तथा यात्रा-वृत्तांत—दोनों ही श्रेणियों में, रखा जा सकता है। उनकी

सर्वोत्कृष्ट—रचनाएँ हलकी-फुलकी रोमानी कहानी-सी ही आनंददायक हैं। ये रचनाएँ सुधी पाठकों के लिए उतनी ही आकर्षक भी है, ऐसे पाठकों के लिए जो समाजशास्त्र एवं संस्कृति के जिज्ञासु अध्येता हैं। यात्राओं की अवधि में लिखे उनके चार 'खंड' बंगाली साहित्य को उनका विशिष्ट योगदान बनते हैं। यद्यपि चटर्जी ने भाषाशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक विषयों पर अनेकानेक प्रपत्र लिखे हैं और शैली की दृष्टि से अतीव सहजता का परिचय दिया हैं, भाषाशास्त्र अध्येता के कठोर आवरण में छिपे जिज्ञासु एवं मूढ़ दर्शक में निहित उनका साहित्यिक व्यक्तित्व तब पूरी तरह उभरकर आया जब वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ इंडोनेशिया यात्रा पर गये। रवीन्द्रनाथ के घनिष्ठ संपर्क ने उन्हें आत्मविश्वास और लालसा प्रदान की, अपने आसपास जो कुछ वे देखते थे, उसे पूरी तल्लीनता, गहनता एवं आवेग के साथ प्रस्तुत करने की।

डॉ. चटर्जी का पहला यात्रा-वृत्तांत **प्रवासी** मासिक पत्रिका में धारावाहिक रूप में 1927 में प्रकाशित हुआ (जिसमें इंडोनेशिया तथा इंडोनेशियाई मसलों पर रवीन्द्रनाथ की ताज़ा लिखी कविताएँ नियमित रूप से प्रकाशित होती थीं।) सितंबर, 1927 से अप्रैल, 1929 तक, 'द्वीपमय भारत' शीर्षक के अधीन। भरपूर चित्रों तथा अतीव साज-सज्जा के साथ यह उसी शीर्षक से 1940 में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई। एक दूसरा संस्करण, कुछ नयी सामग्री जोड़ते हुए, 1964 में प्रकाशित हुआ, **'रवीन्द्र संगमे द्वीपमय भारत ओ स्यामदेश'**। यह यात्रा विवरण, संदेश पत्र तथा डायरी, मानो वह सारा कुछ रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लिए ही लिखा और पढ़ा जा रहा हो, कवि को अत्यंत प्रसन्न कर पाने में सक्षम थे। साथ ही, इस बारे में उन्होंने जावा से पी. सी. महलानवीस को भी पत्र लिखा था जो उनकी पुस्तक **'जावायात्रीर पत्र'**[1] में प्रकाशित हुआ :

> "हमारी मंडली में सुनीति भी है। मैं उसे एक शुद्ध विद्वान् के रूप में जानता था। यानी कि मैं आश्वस्त था कि वह समग्रता को अंशों में विभक्त करने तथा उन अंशों को जोड़कर समग्रता का रूप देने के उद्यम में निपुण है। लेकिन अब मुझे पता चला है कि उस विश्व को भी जो तमाम भाग-दौड़ के बीच चित्रों और दृष्टियों का सतत्, अविराम, एक क्षण भी न रुकनेवाला, प्रवाह प्रस्तुत करता है—बड़ी सहजता से पकड़ सकता है—संपूर्णता और त्वरा के साथ। उनकी लयों और गतियों को खोये बिना। और लेखनी द्वारा सभ्यता और क्षिप्रता से उसे बाँध सकता है। इस प्रतिभा के मूल में है हमारे आसपास के विश्व में उसकी जीवंत रुचि। उसके लिए कोई चीज़ सधी-बँधी अथवा तुच्छ नहीं प्रतीत होती। उसकी लेखनी किसी तुच्छ विषय का विवेचन

1. मूल बाङ्ला भाषा में लिखित।

भी इस तरह करती है कि वह महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि भाषा-विज्ञान के रहस्यों की गहराई में जो व्यक्ति उतर चुके हैं, उनके लिए भाषा की कलादीर्घा पहुँच में परे हैं क्योंकि यह परवर्त्ती विषय एक उच्चतर स्तर से संबंधित है। लेकिन सुनीतिकुमार का बोध बोली के सारतत्त्व तक पहुँचने में भाषा की संतरणशील छवियों को अवरुद्ध नहीं करता। यह एक अद्‌भुत बात है। सुनीति के सुरचित पत्र आपके पास समुचित समय क्रम में पहुँचेंगे। आप उन्हें एक राजसी आभायुक्त संवाद के रूप में पायेंगे। यह लेखन का एक साम्राज्य है। विवरण के मामले में यह सभी कुछ को समेटता है। न तो बड़ी चीज़ और न कोई छोटी बात इसमें छूटी है। सुनीति को तो 'पत्रकला सम्राट्', 'पत्रलेखन मर्मज्ञ' अथवा 'उत्कृष्ट पत्रलेखक' की उपाधि दी जानी चाहिए।"

एक अन्य पत्र में वे लिखते हैं :

"सुनीति कभी-न-कभी इस समूची यात्रा का संपूर्ण विवरण देंगे। अवलोकन तथा स्मृति में चीज़ों को बनाये रखने की उनकी क्षमता उतनी ही ज़बर्दस्त है। जो कुछ भी उनकी दृष्टि से गुज़रता है, उनके स्मृति-पटल पर अंकित हो जाता है। कोई भी विचार छूटता नहीं—न तो सँजोने के प्रयास में और न अभिव्यक्ति में। जो नहीं कहा जाएगा, वह खो जाएगा। मेरा अनुभव कहता है कि हमारी यात्रा का वृत्तांत सुनीति के लेखन में बिलकुल अक्षत बना रहेगा, वह कभी विनष्ट नहीं होगा।"

चटर्जी की दूसरी यात्रा-डायरी 1935 में उनकी योरोप यात्रा के समय लिखी गयी। वह पहले पहल **प्रवासी** (1935-36) और **भारतवर्ष** (1937-38) में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई और फिर पुस्तक रूप में 'पश्चिमेर यात्री' शीर्षक से 1939 (चतुर्थ संस्करण, 1965) में प्रकाशित हुई।

इस विधा की तीसरी तथा अंतिम पुस्तक कभी किसी पत्र में धारावाहिक रूप में नहीं छपी। यह योरोप, 1938 शीर्षक से दो खंडों में (खंड-I 1944 में तथा खंड-II 1945) में प्रकाशित हुई। इसकी सामग्री योरोप की अगली यात्रा से जुटाई गयी थी।

उपर्युक्त **यात्रा-वृत्तांत-पत्र-डायरी** पुस्तकों के अतिरिक्त शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से जो चीज़ सर्वश्रेष्ठ है, वह है 1962 तथा 1964 में 'पथ-चलती'[1] नाम से प्रकाशित किसी यायावर के आरेखों अथवा शब्दचित्रों के दो लघु ग्रंथ। कुछेक आलेखों में चटर्जी अपने शैशव तथा प्रारंभिक युवावस्था के दिनों की स्मृति सँजोते

1. एक लोकप्रिय कहावत जो एक भिन्न किंतु स्वीकृत अर्थ में प्रयुक्त होती है— (तन नष्टम् यन न दियते)

हैं जो जीवंतता एवं ऊष्मा से भरपूर भविष्य दृष्टि का परिचय देते हैं। कुछेक आरेखों, जैसे भिक्षुक, गाड़ीवान तथा काबुलीवाला सहयात्री में चटर्जी की लेखनी संक्षिप्त चरित्रांकन में अति पटुता दर्शाती है। स्कूल शिक्षक हेडपंडित के व्यक्तित्व का संक्षिप्त विवरण विशेष प्रीतिकर है।[1] उनकी माँ के परिवार की एक दूर की रिश्तेदार बुजुर्ग महिला पर उनका लेख तो एक भव्य कथा के रूप में है जो कि विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय भी शायद लिख पाते, लेकिन इतने संयम के साथ नहीं।[2]

'पथ-चलती' के इन कुछ आरेखों ने चटर्जी को हमारे महान् उपन्यासकारों तथा गल्प-लेखकों की श्रेणी में ला दिया है। चटर्जी साहित्य पथ से किसी असामर्थ्य के कारण नहीं अलग हुए थे, बल्कि एक आधारभूत तत्त्व के कारण। चटर्जी सूक्ष्म अवलोकक थे और उनकी स्मृति स्नैप फोटोग्राफ़र जैसी थी। देखे और जाने हुए *सभी कुछ की वे हू-ब-हू पुनर्रचना कर सकते थे। लेकिन जो वह अनुभव करते थे,* उसे नहीं। एक कथा-लेखक को अपनी स्मृति से सामग्री को पचाना और बारंबार पुर्नसंयोजित करना पड़ता है और अपनी ही चिंता एवं अनुभूति से उसमें रंग भरना पड़ता है। चटर्जी कोई भावनाप्रधान चिंतक नहीं थे। सर्जनात्मक समन्वयकर्ता की अपेक्षा उनकी मानसिक संरचना एक अभिलेख-विश्लेषक की रही थी। एक विद्वान् पुरुष के रूप में ही सुनीतिकुमार चटर्जी अपनी श्रेणी में बेजोड़ ठहरते हैं।

असाधारण पुरुषों का व्यक्तित्व आमतौर पर जटिल पाया जाता है। सुनीति-कुमार चटर्जी एक असाधारण व्यक्ति थे और वे उपर्युक्त नियम के भी अपवाद नहीं थे। उनकी मानसिक तथा चारित्रिक संरचना दो प्रमुख पक्ष सामने रखती है—एक सादगीपसंद व्यक्ति के रूप में और एक परिष्कृत विद्वान् के रूप में। बहरहाल, उनके व्यक्तित्व के ये दो पक्ष किसी प्रकार का अंतर्विरोध प्रस्तुत नहीं करते बल्कि इनमें दोनों का सहज मिश्रण होता था, हालाँकि उसमें हमेशा पूर्ण सामंजस्य नहीं होता। एक परंपरावादी ब्राह्मण कुल में, जिसने शहरी जीवन स्वीकार कर लिया था, वे परंपरावादी नित्यकर्म के किसी भी दायित्व से मुक्त हो चुके थे; यज्ञोपवीत धारण करने तथा प्रातःकाल गायत्री-मंत्र जाप करने के अलावा। लेकिन उन्होंने अपने पूर्वजों के आध्यात्मिक आदर्शों का परित्याग नहीं किया था और वे इस बात के लिए प्रारब्ध के आभारी थे कि वे एक ब्राह्मण कुल एवं भारत में पैदा हुए।

इंग्लैंड तथा योरोप की यात्रा करनेवाले बंगाली तरुण प्रायः गोमांस खाने के लिए बाध्य अनुभव करते हैं। (अपने पारंपरिक संस्कार को बनाये रखने का प्रयास करनेवाले लोग अपने स्वास्थ्य और जीवन तक का संकट उठाते थे। एक तेजस्वी गणितशास्त्री रामानुजम का उदाहरण सामने है।) वापस आने पर वे गोमांस खाने

1. हेड पंडित मोशाय, खंड-I
2. 'मोनी-काका', खंड-II

की बात स्वीकार नहीं करते थे, फिर भी उनमें से अधिकांश को प्रायश्चित्त की प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता था। इस प्रक्रिया का सर्वाधिक विद्रूप अंश होता था गोमेद का ग्रहण, जो जीभ तथा मलद्वार की शुद्धि का प्रतीक बनता था। पश्चिम की अपनी पहली यात्रा से वापस आने पर चटर्जी को अपने पिता के आदेश अनुसार प्रायश्चित्त करना पड़ा था। लेकिन उन्होंने कभी इस बात को छिपाया नहीं कि उन्होंने गोमांस भक्षण किया था। बहरहाल, प्रायश्चित्त कर्म उनकी प्रकृति के बिलकुल विपरीत था। एक प्रकार की प्रतिक्रिया सामने आयी। विश्वविद्यालय के अपने सहकर्मियों के सामने उन्होंने दावा किया कि गोमांस बहुत पुष्टिकर है और बछड़े का मांस तो सर्वाधिक रुचिकर खाद्य है। इस प्रकार के हलके-फुलके मनो-विनोदयुक्त वक्तव्य उनके कुछ सहकर्मियों पर बहुत बुरा प्रभाव छोड़ते थे। इस प्रकार अपने कुछ सहकर्मियों के बीच कुछ समय के लिए उन्होंने अपने को बहुत अप्रिय बना लिया था।

डॉ. चटर्जी आजीवन यज्ञोपवीत धारण करते रहे और ऐसा उन्होंने सगर्व किया। लेकिन तीखे सामाजिक प्रश्नों के प्रसंग में वे बहुत कुछ विनम्र बन चुके थे। पश्चिम से अपनी वापसी के बाद तरुण प्राध्यापक चटर्जी हिंदू महासभा की ओर मुड़े थे जो उस समय ग़ैर-हिंदुओं को प्रचंड रूप में हिंदुत्व की ओर प्रेरित कर रही थी, तथा विधवा-विवाह को बढ़ावा दे रही थी। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि समकालीन राजनीति तो नहीं लेकिन सामाजिक सुधार उनकी भावनाएँ उभारने में सफल हुए।

अपने जीवन की अंतिम अवधि में डॉ. चटर्जी ने ब्राह्मण एवं ब्राह्मणेतर तथा विवाह को स्वीकृति दे दी थी। उन्होंने विवाह तथा उपनयन के सुदीर्घ कर्मकांडों को वर्तमान समय की आवश्यकताओं के अनुरूप सहज एवं सहनीय रूप देने का प्रयास किया। चटर्जी ने अस्पृश्यता को बढ़ावा नहीं दिया। बाद में तो उन्होंने अंतर्जातीय विवाहों को भी स्वीकृति दे दी। यह कहा जा सकता है अपने जनेऊ के अलावा चटर्जी जातिभाव से मुक्त हो चुके थे।

सुनीतिकुमार चटर्जी की मानसिकता में कुछ परस्पर विरोधी विशेषताएँ थीं जो मिल-जुलकर उन्हें एक आकर्षक व्यक्ति बना देती थीं। अपने स्वभाव एव व्यवहार में चटर्जी सहज-सरल एवं आडंबर-विहीन थे। लेकिन सामाजिक परिवेश में वे अलंकारप्रिय तथा समुचित सज्जावाले दिखना चाहते थे। इस रूझान के दो-तीन स्रोत संभव प्रतीत होते हैं। समग्र जीवन के प्रति दृष्टिकोण में सादगी उन्हें वंश-परंपरा में मिली थी। सजावटप्रियता उनके अंतर्जात कलाप्रेम से निस्सृत होती थी। अपने कोर-कोर तक एक विद्वान् अध्येता होने के बावजूद चटर्जी अत्यंत मानवीय बने रहे और सामाजिक सरोकार के पथ से विचलित नहीं हुए। यह सामाजिक आकांक्षा ही थी, जिसने चटर्जी को विश्वविद्यालय से पदत्याग और 'राजनीतिक'-सी लगनेवाली नियुक्ति लेने के लिए प्रेरित किया। लेकिन इससे उनके

अंदर के विद्वान् को कोई क्षति नहीं पहुँची। विद्वत्तापूर्ण विषयों पर वे स्वच्छंद रूप से व्याख्यान देते रहे और बहुत-थोड़े समय के लिए कक्षाएँ भी लेते रहे। अंतिम वर्षों में वे अकादमिक क्षेत्र में वापस लौट आए थे। उनको मानविकी का राष्ट्रीय प्राध्यापक बना दिया गया था। यह कार्यभार और पद दोनों ही उनकी गरिमा के लिए उपयुक्त थे।

चटर्जी भारतीय संस्कृति के उत्कट प्रेमी थे। अपने छात्रजीवन में उन्होंने ग्रीक तथा इस प्रकार योरोपीय संस्कृति के लिए प्रेमभाव बना लिया था। यह प्रेमभाव उनसे न अलग हुआ और न कभी कम हुआ। लेकिन यह स्वजातीय संस्कृति के लिए उनके बढ़ते प्रेम द्वारा आच्छादित एवं अनुप्राणित होता रहा। पहले तो इसका *अंकुरण स्वदेशी आंदोलन से हुआ जिसकी धार छात्रजीवन में ही उन्होंने अनुभव* की थी। भारतीय संस्कृति के मामले में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संपर्क ने उनकी आँखें पूरी तरह खोल दीं। चटर्जी द्वारा बारंबार दूर-दूर तक, और लगभग समग्र विश्व की यात्रा, आदिम जीवन एवं विकसित सभ्यताओं के लिए उनके प्रेम, युग-युगांतर में मनुष्यों द्वारा किये गये कलात्मक सृजन के लिए उनकी उत्कंठा, संस्कृत साहित्य के लिए उनका प्रेमभाव और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बारे में उनका बोध—इन सबने संयुक्त रूप से भारतीय संस्कृति के लिए उनकी प्रबल पक्षधरता को परिपुष्ट किया। भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम तो बहुतेरे सांस्कृतिक फेरीवालों के लिए फ़ैशन-भर है। चटर्जी के लिए यह उनकी आस्था का प्रश्न था।

इंग्लैंड, अमरीका, योरोप तथा कुछेक एशियाई देशों के अनेक विश्वविद्यालयों तथा सांस्कृतिक संस्थानों में चटर्जी जा चुके थे। इनमें से अनेक स्थानों पर उन्होंने व्याख्यान दिये थे। प्रत्येक स्थल पर उनका अभिनंदन भारत के सांस्कृतिक राजदूत के रूप में किया गया। दरअसल वैसा कोई पद भारत सरकार बनाती, तो वही सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति होते, यदि एकमात्र नहीं। लेकिन सरकार को मैं दोषी नहीं ठहराऊँगा। उसने तो उन्हें मानविकी का राष्ट्रीय प्राध्यापक पद पर नियुक्त कर भी उन्हें सम्मानित किया।

सुनीतिकुमार चटर्जी एक सुपरिचित विद्वान् थे जिसने बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भाषाशास्त्रियों, भाषाविज्ञानियों तथा बाङ्ला साहित्य-मीमांसकों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था। उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति के एक योरोपीय प्रशंसक ने उन्हें पाणिनि और पतंजलि का वास्तविक उत्तराधिकारी घोषित किया था। अनेक व्यक्तियों की जिज्ञासा होती है कि भाषाशास्त्र के क्षेत्र में चटर्जी का ठीक-ठाक योगदान क्या है! यह एक तकनीकी मसला है लेकिन संक्षेप में इसको इस प्रकार दर्शाया जा सकता है।

चटर्जी ने पुरानी भारोपीय भाषा द्वारा गौण मध्य-भारतीय मंजिल से आधुनिक बाङ्ला भाषा तक के विकास में अपनाये गये इतिहास-पथ का सुनिश्चित अनुरेखण किया। उनके पहले भी काम करनेवाले थे जिनका योगदान उपेक्षणीय नहीं है।

वह था अपने पूर्ववर्तियों की त्रुटियों की ओर संकेत करते हुए उनके द्वारा छोड़ दी गयी रिक्तियों की पूर्ति। उनके पूर्ववर्तियों के प्रयास के बावजूद, अनुपलब्ध एवं अप्राप्य अनेक नयी सामग्रियों का प्रयोग भी वे कर पाये।

चटर्जी एक समर्थ भाषावैज्ञानिक थे, प्रो. डेनियल जोंस के योग्यतम छात्रों में एक। क्षेत्रीय भाषाशास्त्र विषयक उनकी प्रथम कृति 'ए **ब्रीफ़ स्केच ऑफ़ बंगाली फ़ोनेटिक्स**' इस विषय पर संभवत: सर्वश्रेष्ठ योगदान है।

प्रसंगत: इस बात पर बल दिया जा सकता है कि भारोपीय भाषाओं द्वारा प्रस्तुत अनेक-अनेक समस्याओं का समाधान चटर्जी ने सुझाया। इससे कतिपय आधुनिक भारतवर्ष भाषाओं के इतिहास की पुनर्रचना में सहायता मिली। ऐसे विवरणों की सूची प्रस्तुत पुस्तिका के ढाँचे में संभव नहीं।

कलकत्ता तथा इसके उपनगरों में आ बसे अधिकांश ब्राह्मण परिवार वैष्णव नहीं थे, क्योंकि उत्तर-सोलहवीं सदी से ही बंगाल में हिंदूमत का प्रभुत्वशाली स्वरूप विद्यमान था। कलकत्ता के ब्राह्मण या तो स्मृति एवं न्याय अथवा ज्योतिष की शिक्षा देनेवाले विद्वान् थे जो संपन्न परिवारों से पुरोहित के रूप में संरक्षण पाते थे और दैनंदिन शिवपूजा के कर्म में लगते थे। (बंगाल के संपन्न भद्रजनों के बीच शिवलिंग की स्थापना करके उसकी पूजा को प्रोत्साहित करने की परंपरा थी।) देवी काली की उपासना करनेवाले ब्राह्मण भी थे, जो कलकत्ता की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थीं। कलकत्ता के ब्राह्मणों में अधिकतर शिव तथा काली के उपासक ब्राह्मण ही रहते थे। चटर्जी का परिवार माँ, और पिता, दोनों ही पक्षों से शिव तथा काली का उपासक था। हिदूधर्म के किसी संप्रदाय के लिए चटर्जी के मन में पूर्वग्रह नहीं था, लेकिन शिवपूजा की ओर उनमें स्वाभाविक रूझान था। अपने आरंभिक जीवन में ईश्वरपरायण थे और उनकी वरीयता शिव के लिए थी। वैष्णव मत के देवता कृष्ण के लिए उनमें कोई उत्कंठा नहीं थी और न ही चैतन्य तथा उनके आंदोलन में उनकी कोई रुचि थी। किन्हीं दृष्टियों से यह दुर्भाग्यपूर्ण थी। वैष्णव काव्य का उनका मूल्यांकन, जिससे वे परिचित तो थे, सीमित ही था और कीर्तन गीतों को वे सहन नहीं कर पाते थे। बाद के वर्षों में वे वैष्णव काव्य के पाठ की ओर मुड़े और उनकी प्रशंसा भी की। यह उनके जीवन के परवर्ती वर्षों में ही संभव हुआ कि रवीन्द्रनाथ के कोमल तथा व्यक्ति केंद्रित गीतों का उनका बोध गहन हुआ।

अपने परवर्ती वर्षों में चटर्जी स्वयं को अज्ञेयवादी कहना पसंद करते थे। यह शायद एक सही रूझान था। भावनात्मक गहनता का चटर्जी में अभाव था और वैयक्तिक ईश्वर की अवधारणा उसे नहीं हो सकती जिसमें अंतश्चेतना के लिए उपयुक्त भावुकता न हो। लेकिन बाद के वर्षों में, विशेषकर अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद, चटर्जी एक सीमा तक भावविह्वल हो गये थे और उनकी अंतश्चेतना अज्ञेयवाद की सीमा का उल्लंघन करने ही जा रही थी।

प्रतिनिधि रचनाएँ

(अ) अंग्रेज़ी

I. भाषाशास्त्र :

1. **ए ब्रीफ़ स्केच ऑफ़ बंगाली फ़ोनेटिक्स :** बुलेटिन ऑफ़ द स्कूल ऑफ़ ओरियंटल स्टडीज़ में प्रकाशित, लंदन, 1921, इंटरनेशनल फ़ोनेटिक एसोसियेशन द्वारा पुस्तिका रूप में प्रकाशित।
2. **द ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ़ द बंगाली लैंग्वेज,** दो भागों में, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1926. तीन भागों में दूसरा संस्करण, जॉर्ज एलेन एंड अनविन, लंदन (1970, 1972)
3. **इंडो-आर्यन एंड हिंदी,** अहमदाबाद, 1942, दूसरा परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण, कलकत्ता, 1960

II. वाङ्मीमांसा

4. **किरात-जन-कृति,** द एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1951, संशोधित एवं परिवर्धित दूसरा संस्करण, 1974
5. **अफ्रीकनिज्म,** कलकत्ता, 1960
6. **द्रविडियन,** अन्नामलाई विश्वविद्यालय, अन्नामलाई, 1965
7. **बाल्ट्स एंड आर्यन्स,** इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ एडवांस्ड स्टडीज़, शिमला, 1968
8. **इंडिया एंड इथियोपिया : फ्राम द सेवेंथ सेंचुरी बी. सी.,** द एशियाटिक सोसाइटी (विनिबंध माला) कलकत्ता, 1968

III. साहित्य

9. **वर्ल्ड लिटरेचर एंड टैगोर :** विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन, 1971

(ब) बाङ्ला

I. भाशाषास्त्र :

1. **बाङ्ला भाषातत्त्वेर भूमिका**, कलकत्ता विश्वविद्यालय, प्रथम प्रकाशन, 1029
2. **भारतेर भाषा ओ भाषा समस्या**, विश्वभारती, कलकत्ता, 1944, दूसरा संस्करण, 1945
3. **भाषा प्रकाश बाङ्ला व्याकरण**, कलकत्ता विश्वविद्यालय ।
4. **बाङ्ला भाषा प्रसंगे**, जिज्ञासा, 1975

II. संस्कृति

5. **भारत-संस्कृति**, संशोधित संस्करण, कलकत्ता, 1963
6. **सांस्कृतिकी**, दो खंडों में, कलकत्ता, 1962, 1965
7. **पश्चिमेर यात्री**, कलकत्ता, 1938
8. **योरोप 1938**, दो खंडों में, कलकत्ता, 1944, 1945
9. **रवीन्द्र-संगमे द्वीपमय भारत ओ स्याम-देश**, कलकत्ता, 1964

III. साहित्य

10. पथ-चलती (दो खंडों में), कलकत्ता, 1962, 1964

(स) हिंदी

I. भाषाशास्त्र

1. **राजस्थानी भाषा**, उदयपुर, 1949

II. सांस्कृतिक

2. **ऋतंभरा** (ग्यारह प्रपत्रों का संकलन)
   इलाहाबाद, 1951, दूसरा संस्करण, 1958

□□